[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] AHMD

[illegible]

दो धारा

उपेन्द्र नाथ अश्क
कौशल्या अश्क

नीलाभ प्रकाशन गृह

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह
५ खुसरोबाग़ रोड
इलाहाबाद

विक्रेता—
भारती भंडार
लीडर प्रेस
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९४९
मूल्य ३।)

साहित्यकार संसद के उच्च-उद्देश्यों के नाम

"एक स्रोत से फूट बह रही
कब से यह दो धारा"

पन्त

अपनी बात

अश्क जी के कहानी-संग्रह पिंजरा के पश्चात् हम अश्क-दम्पत्ति की कहानियों का यह सर्वाङ्ग-सुन्दर संग्रह लेकर सुहृद् पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं।

अश्क जी हिन्दी के प्रमुख कथाकार हैं। वे हिन्दी के एक-मात्र ऐसे लेखक हैं जिन्हें उपन्यास, कहानी, नाटक तथा कविता पर समान-रूप से अधिकार प्राप्त है। यदि नाटक के क्षेत्र में उन्हों ने नयी राहें निकाली हैं और हिन्दी नाटक-साहित्य को संसार के अति-आधुनिक नाटक-साहित्य के बराबर ला खड़ा किया है तो उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी उन्हों ने नवीन धाराएँ प्रवाहित की हैं। उन का हास्य-व्यंग्य, यथार्थ पर उन का अधिकार, उन की कला, उस का सौष्ठव तथा परिष्कार उन की अपनी चीज़ है। उन के वृहद् उपन्यास "गिरती दीवारें" को छपे आज दो वर्ष होने को आये हैं, पर आज भी उस के पक्ष और विपक्ष में आलोचनाएँ हो रही हैं। और यह बात लेखक तथा उस के उपन्यास की मौलिकता तथा शक्ति का सहज-प्रमाण है।

जहाँ तक प्रस्तुत संग्रह की कहानियों का प्रश्न है, इन के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये लेखक की शैली के गाम्भीर्य की प्रतीक हैं। कौशल्या जी के कथनानुसार श्री अश्क का स्वभाव पराकाष्ठाओं

से बना है । वे अत्यन्त विनोद-प्रिय भी हैं और अत्यन्त गम्भीर भी । यदि भारती-भंडार से प्रकाशित **'छींटे'** की हास्य तथा व्यंग्य से परिपूर्ण ४२ कहानियाँ उन की विनोद-प्रियता का पता देती हैं तो **दो धारा** की ये कहानियाँ उन के गहन-गाम्भीर्य का । परन्तु गम्भीरता के कारण प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में मनोरंजकता की कमी नहीं । मुक्त-हास्य का चाहे यहाँ अभाव हो, परन्तु अश्क जी का व्यंग, उन की कला का परिष्कार तथा सौष्ठव पाठकों को संग्रह की प्रत्येक कहानी में मिलेगा ।

कौशल्या जी (जहाँ तक उन की कहानियों के पुस्तक रूप में संकलित होने का प्रश्न है) पहली बार हिन्दी संसार में पदार्पण कर रही हैं । परन्तु नये लेखकों का सा अविश्वास अथवा संकोच उन में नहीं । अपने संगी के सहयोग से कला की परिष्कृति उन्हों ने पर्याप्त मात्रा में पायी है । इस पर भी शैली उन की अपनी है । पाठकों को प्रस्तुत संग्रह में कला की ऐसी **दो धारा** प्रवाहित मिलेगी जो दो होते हुए भी एक और एक होते हुए भी दो है ।

लेखक-दम्पत्ति के रेखा-चित्र, आशा है, कहानियों के पीछे छिपे कलाकारों को समझने में पाठकों की सहायता करेंगे । अपनी आगामी योजना में हम जो पुस्तकें छाप रहे हैं, उन में लेखकों के रेखा-चित्रों के प्रकाशन की व्यवस्था हम विशेष रूप से कर रहे हैं । ताकि पाठक कला ही को न जानें, कलाकार को भी जानें ।

पुस्तक का विज्ञापित मूल्य ३) रुपये था, पर छपते छपते पुस्तक का आकार १४ फार्म से बढ़ाकर १७ फार्म हो गया । मुख-पृष्ठ दोरंगा और लेखक-दम्पत्ति के दो चित्र ! मूल्य तो ८ आने बढ़ाना चाहिए था पर हम ने पाठकों से अपनी हानि आधी आधी बाँट ली है ।

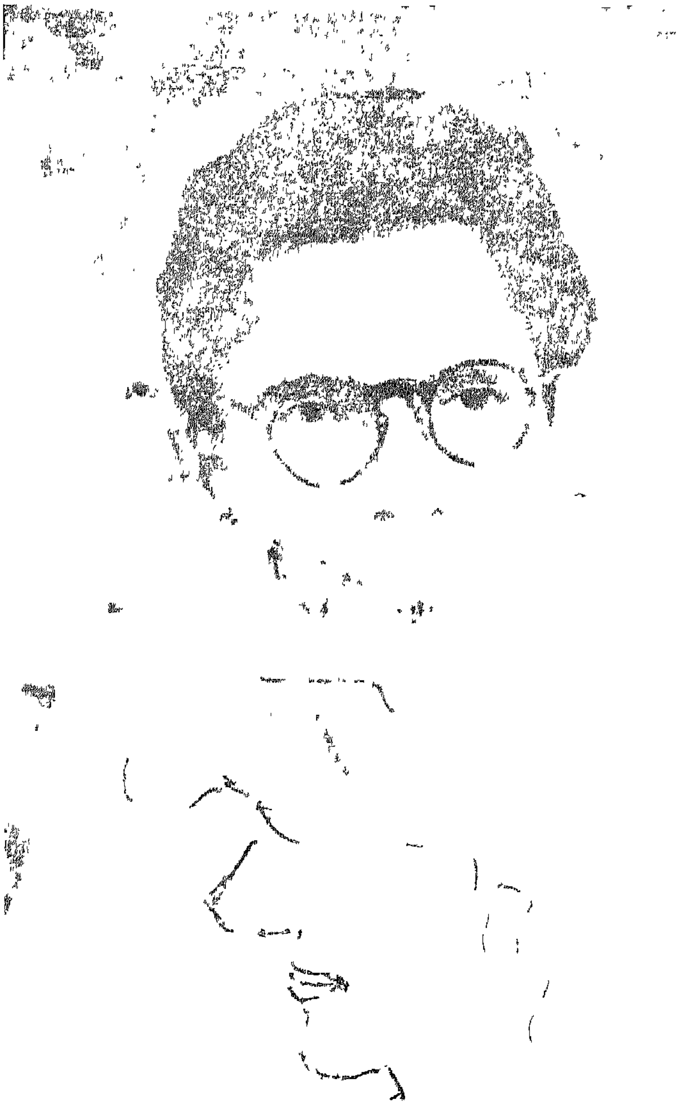
मुख-पृष्ठ के सुन्दर तथा सांकेतिक चित्र के लिए हम श्री इस्माईल और उस की सुन्दर छपायी के लिए श्री प्रवासी लाल वर्मा सुपरिंटेंडेंट लीडर प्रेस के विशेष आभारी हैं ।

प्रकाशक

क्रम

कौशल्या अश्क





अश्क जी—एक रेखा-चित्र

(कौशल्या)



अश्क जी ने एक कविता में लिखा है :

और मैं दरिया
चिर का चला
थका औ' हारा
मन्थर-गति से मैदानों में बहने वाला
मौन और गम्भीर, शान्त औ' श्रान्त
यौवन की सब याद भुला कर
लूट लुटा कर
बहता हूँ उद्भ्रान्त !

किन्तु, यह दरिया की एक सीमा है। शीतकाल का सूखा-सिमटा, धीरे-धीरे, मौन-मन्थर बहने वाला दरिया वर्षा-ऋतु में किनारों को तोड़ता, ठहाके मारता हुआ बहने लगता है। उसे देख कर कभी यह

कल्पना भी नहीं होती कि वह घायल, म्रियमाण सर्प सा सिकुड़ा-सिमटा भी कभी रेंगता होगा।

दरिया की यही दो पराकाष्ठाएँ अश्क जी के स्वभाव की भी पराकाष्ठाएँ हैं। उस की एक पराकाष्ठा को देख कर अश्क जी के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने वाला, जब उस की दूसरी पराकाष्ठा देखेगा, तो आश्चर्य के साथ साथ एक तीव्र-आघात उसे लगे बिना न रहेगा।

अश्क जी से अपने परिचय और विवाह के पहले दिनों में मेरी स्थिति ऐसे ही व्यक्ति की सी थी, जिस ने दरिया का शीतकालीन रूप ही देखा हो— छोटी आयु में इन का विवाह हो गया था—एक सरल, किन्तु अशिक्षित ग्रामीण लड़की के साथ। वह किसी योग्य हुई तो यक्ष्मा ने लम्बी यातना के बाद उसे अपनी गोद में ले लिया। उस की मृत्यु से अश्क जी को बड़ा धक्का लगा। इन के यहाँ पहली पत्नी का देहाँत होते ही रिश्ते आने लगते है ? अश्क जी को पहली पत्नी पसन्द न थी, किन्तु चार वर्ष के सहयोग के पश्चात् उसे चाहने लगे थे। इन्हों ने जल्दी दूसरा विवाह न किया। सब-जजी करने को कानून पास किया था, किन्तु प्रतियोगिता से दो महीने पूर्व पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण, खिन्न-मन हो, वह संकल्प छोड़, साहित्य-सेवा में रत हो गये। लाहौर का जीवन तब क़ाफी जुगुप्सा और लांछना-भरा था। कोई न कोई कलंक-कहानी वहाँ नित्य फैलती रहती। वहाँ से शान्ति की खोज में भागे तो मध्य-पंजाब के एक आधुनिक आदर्शवादी गाँव 'प्रीत नगर' में जा पहुँचे। वहाँ भी लांछना ने पीछा न छोड़ा। एक लड़की को लेकर ख़ासा 'स्कैंडल' खड़ा हो गया। अश्क जी इतने तंग आ गये कि अपने बड़े भाई को लिख दिया—'मेरा विवाह तय कर दो,' उन्हों ने बिना देखे सुने एक जगह बात पक्की कर दी। अश्क जी तनिक शान्त हुए तो लगा कि ख़ासी ग़लती हो गयी है। पहले भी विवाह कुछ ऐसे ही

हुआ था, अनुभव काफ़ी कटु थे। भाई साहब से कहा—"सगाई छोड़ दीजिये !" उन्हों ने कहीं दूर के रिश्ते ही में सगाई तय की थी। वे माने नहीं। मन की ऐसी ही दुविधा-भरी खिन्न और क्लान्त दशा में थे, जब मेरा इन से परिचय हुआ, और मैंने अश्क जी के स्वभाव का वही रूप देखा,जिस का उल्लेख इन्हों ने इस कविता में किया है।

मैं रेनाला में हैडमिस्ट्रेस थी। लाहौर आती तो वीडन रोड पर अपने मामा जी के यहाँ ठहरती। अश्क जी वहीं मुझ से मिलने आया करते। आते तो ड्राइङ्ग-रूम में ऐसे चुपचाप बैठ जाते, मानो बात करना ही नहीं जानते। कोई बात पूछती तो इतने धीमे स्वर में उत्तर देते कि पास बैठा व्यक्ति भी न सुन सके। उन दिनों मैं सोचा करती थी कि मैं इन के व्यथित, उदास जीवन को मुस्कराना सिखाऊँगी—आप मेरे आश्चर्य का अनुमान लगा सकते हैं, जब अपने विवाह के एक महीने बाद ही मैंने इन्हें गगन-भेदी ठहाके मारते देखा और मुझे सुनना पड़ा कि मैं इतनी गम्भीर प्रकृति की हूँ कि शायद इन जैसे 'फक्कड़, हँसमुख' आदमी के साथ न चल सकूँ।

आत्म-विरोधी सीमाओं पर चलने वाले अश्क जी के स्वभाव का एक ही रूप देखने वाले को, अनायास ही उस का दूसरा रूप देखने पर, ऐसे ही चकित रह जाना पड़ता है और अपने सात वर्ष के वैवाहिक जीवन में (हमारे विवाह को केवल सात वर्ष हुए हैं) ऐसे आश्चर्य के साथ धक्का सा पहुँचाने वाले क्षण कम नहीं आये।

विवाह के पहले ही दिनों की बात है। एक बार हम ने कुछ मित्रों को आमंत्रित किया। उन में से कुछ अश्क जी के श्रद्धालु भी थे, दस्तरखान बिछा, सब्ज़ी भाजी के डोंगे, सलाद आदि रख, मैंने सब को

बैठने के लिए कहा। जब सब अपने अपने स्थान पर बैठ गये तो मैंने दायीं ओर कोने पर बैठे अतिथि से कहा—"आरम्भ कीजिए!" अश्क जी उन के सामने बायें कोने में बैठे थे। श्रद्धा और शिष्टाचार-वश उन्हों ने अश्क जी से कहा—"आप ही आरम्भ कीजिए।" बिना किसी प्रकार की दुविधा अथवा संकोच के, निरन्तर बातें करते हुए, इन्हों ने एक डोंगा उठाया और अपनी प्लेट में सालन डाला, फिर उसे आगे करने के बदले, वहीं अपने सामने रख दिया और दूसरे की ओर हाथ बढ़ाया। मैं अवाक देखती रही। डोंगे पर डोंगा उठा कर ये सब अपनी प्लेट में डालते गये; वहीं अपने पास डोंगे इकट्ठे करते गये; और फिर बिना यह देखे कि किसी दूसरे ने भी कुछ लिया है या नहीं, आप ने खाना आरम्भ कर दिया।

मैंने दबी ज़बान से कहा, "आप ने खाना शुरू कर दिया, डोंगे आगे बढ़ाइए"

अश्क जी ने कौर मुँह में डालते हुए कहा, "अरे भाई, लीजिए न, तकल्लुफ न कीजिए औ खाते जाइए।"

और ये पूर्ववत् खाते गये।

तब लज्जित सी होकर मैंने स्वयं डोंगे आगे बढ़ाये।

ऐसे ही एक बार जब अचानक कुछ मेहमान ज्यादा आ गये, मैंने बैठक से इन्हें बुला कर कहा, "शेष तो सब ठीक है, पर बैंगन का भुर्ता कुछ कम है। कोई रह न जाय। कहिए तो जल्दी से दो बैंगन मँगा कर भून लूँ। साथ में बाज़ार है, देर न लगेगी।"

बोले, "तुम चिन्ता न करो जी, सब ठीक हो जायगा। और कुछ पकाने की हरगिज़ ज़रूरत नहीं।"

मैंने कहा—"थोड़ा थोड़ा स्वयं ही सब की प्लेटों में डाल दीजिएगा।'

बोले—"तुम ज़रा भी फ़िक्र न करो। तुम देखना मैं कैसे सब ठीक कर देता हूँ।"

और बाहर अपने मित्रों में जा बातों में निमग्न हुए।

मैं भी निश्चिन्त हो गयी।

जब समय पर सब खाने को बैठे, मैंने भुर्ते की प्लेट की ओर संकेत किया। इन्होंने भुर्ता उठाया और अपनी प्लेट में पर्याप्त रूप में डालकर बोले, "देखो भाई, यह तरकारी बस इतनी ही है। लेते समय ज़रा दूसरों का ध्यान रखिएगा।"

शर्म के मारे मेरा मुँह लाल हो गया। मैंने कहा, "आप तो दूसरों का ध्यान रखिए!"

"अरे यार!" कहते हुए अश्क जी ने ठहाका मारा··"अब तो यह जूठा हो गया, नहीं तो वापस डाल देता।" मुझ से माफ़ी माँगते हुए बोले, "गुस्सा क्यों होती हो, ये सब अपने ही आदमी हैं, यहाँ कोई खाने थोड़ा ही आते हैं, इस बहाने चन्द दिलचस्प घड़ियाँ बीत जाती हैं।" और मित्रों से बोले, "लो यार थोड़ा थोड़ा। ये तो और पकाने लगी थीं, मैंने ही रोक दिया कि तुम सब अपने ही आदमी हो। तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत है!"

अश्क जी के लिए सभी अपने आदमी हैं। जामिया मिलिया दिल्ली के प्रो० सरवर ने इन के बारे में एक जगह लिखा है :—

"अश्क की तबीयत में अजनबीपन नाम को नहीं। पहली ही मुलाकात में आप से सब कह देंगे। सब से बेतकल्लुफ़ और सब के दोस्त!"

और मुझे अपने साथ इन की पहली मुलाकात याद आ जाती है।

मुझे रेनाला से लाहौर पहुँचने में कुछ देर हो गयी थी। पर ये प्रीत-नगर से पहले ही लाहौर पहुँच गये थे। मैं अभी स्नानादि से भी निवृत न हुई थी कि आप का छोटा भाई आ पहुँचा और मालूम हुआ अश्क जी को आये चार पाँच घंटे हो गये हैं, उन की तबीयत ख़राब है, ज्वर है और हॉकी खेलते हुए आँख पर गहरी चोट आ गयी है। मुझ से कहा गया कि यदि सम्भव हो तो मैं ही उधर चलूँ।

अश्क जी के बड़े भाई लाहोर में दाँतों के डाक्टर थे। बाइबल सोसाइटी के सामने उन की सर्जरी थी। इन के भाई ने मुझे वहाँ का पता बताया। मैंने कहा, "आप चल कर अश्क जी से कहिए कि मैं आध घण्टे में पहुँच जाऊँगी।"

मैंने इन को पहले भी दो एक बार देखा था—सिल्क का बंगाली कुर्ता और बारीक किनारे की धोती पहने। हिन्दी-समाज लाहौर के अधिवेशन में इन की कविता भी सुनी थी, किन्तु ये मुझे नहीं जानते थे, चन्द पत्रों ही का परिचय था। चिक उठा कर मैंने प्रवेश किया तो देखा हाफ़-पेंट और खुले गले की कमीज़ पहने बैठे हैं। एक आँख पर पट्टी बँधी है जो आधे सिर को अपनी लपेट में लिए हुए है। कमीज़ के कफ़ में तीन तीन 'स्टड' और हाफ़पेंट में तीन तीन 'बक्लस'! कुछ चकित सी होकर मैंने 'नमस्कार' किया। बिना उस का उत्तर दिये बोले, "आओ!" मैं बैठने ही वाली थी कि उठ खड़े हुए। बोले, "यहाँ मरीज़ों की भीड़ लगी रहती है, घर में पिता जी आये हुए हैं और पिये हुए हैं, चलो बेदी के यहाँ चल कर बैठते हैं।"

इस से पहले कि मैं कुछ कहती, आप ने बाहर निकल कर एक ताँगे वाले को आवाज़ दी और अगली सीट पर जा बैठे।"

बेदी का नाम सुन कर, न जाने क्यों, मेरे मन में डाक्टर की कल्पना हो आयी—डाक्टर बेदी—और मेरे मस्तिष्क में आधुनिक ढंग के फ़र्नीचर

से सजा हुआ एक ड्राइंग रूम घूम गया। लेकिन जब घोड़ा अस्पताल के पास से होकर, ऋषि नगर के बाहर की सड़क पर चलते हुए ताँगा एक कीचड़ सनी गली के सामने जाकर रुका और मकानों के आगे बनी हौदियों (चहबच्चों) की दुर्गन्ध से दिमाग़ भन्ना गया (उस समय ऋषि-नगर में आज कल जैसी नालियाँ न बनी थीं) तो मेरा माथा ठनका। किन्तु ताँगे से उतर कर श्रद्धा-वश मैं इन के पीछे पीछे चलने लगी।

हम ने जिस कमरे में प्रवेश किया, वह न आधुनिक था, न मेरी कल्पना के अनुसार सजा हुआ था और न वेदी ही डाक्टर थे। कमरा छोटे से आकार का था, उस में एक पलंग भी बिछा हुआ था, एक मेज़ और दो तीन कुर्सियाँ भी थीं और—"कहो भाई बेदी!" कह कर अश्क जी ने जिस व्यक्ति से हाथ मिलाया, वह मँझले क़द का सिख युवक था—नंगे सिर और कच्छा (अंडरवेयर, जिस का पहनना सिक्खों के लिए धार्मिक रूप से भी अनिवार्य है) पहने हुए! कमरे में बहुत अच्छे सूट में आवृत्त एक दूसरा सिख युवक भी बैठा था। अश्क जी उसे जानते थे या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकती, किन्तु उस पर एक उड़ती सी दृष्टि डाल कर ये अपने मित्र को धकेलते हुए से आँगन में ले गये और वहाँ जाकर बोले, "भाई अपने इस मेहमान को तत्काल चलता करो, चाहे यह तुम्हें कितना भी प्रिय क्यों न हो!" मेरी ओर संकेत करके बोले, "इन को ज़रा ले जाकर बैठाओ और मुझे कोई पायजामा-आमा दो, इस निक्कर की कैद से मुक्ति पाऊँ!" और बिना वेदी साहब को उत्तर देने का अवसर देते हुए, रस्सी पर धोकर सूखने को डाला तथा सूखा हुआ एक पायजामा लेकर, मुझ से "मैं अभी आता हूँ!" कह कर भीतर के कमरे में चले गये।

मैं चकित सी बेदी साहब के साथ (क्योंकि ये बेदी उर्दू के प्रख्यात गल्पकार राजेन्द्र सिंह बेदी के अतिरिक्त दूसरे कोई न थे) फिर

वापस अन्दर गयी और जिस कुर्सी की ओर उन्हों ने संकेत किया, उस पर चुपचाप बैठ गयी।

कुछ श्रद्धावश, कुछ इस लिए कि इतनी दूर से चल कर इन से मिलने आयी थी, मैं चुप बैठी रही। यह जान कर कि शब्दों से खेलने वाले यह कवि महाराज हॉकी भी इस निष्ठा से खेल सकते हैं कि आँख तुड़वा लें, मुझे आश्चर्य हुआ था, और यद्यपि इन की इस बेतकल्लुफी को देखकर मैं अवाक् रह गयी, पर इन के इस विचित्र फक्कड़पने के कारण इन्हें जानने की और भी उत्सुकता हो गयी थी।

मुझे वेदी साहब की वह विवशता कभी न भूलेगी। मैंने बाद में उन्हें सूट में भी आवृत्त देखा है और आधुनिक ढङ्ग पर सजे हुए (माडल टाऊन) के अपने बंगले में भी, किन्तु मेहमानों के मामले में मैंने उन्हें सदैव इतना ही सहृदय और सुसंस्कृत पाया है। अश्क जी कभी कभी बहुत रूखे हो जाते हैं, लेकिन वेदी साहब को मैंने क्रोध में भी कभी, याचित हो अथवा अयाचित, मेहमान से रूखा व्यवहार करते नहीं देखा।

मुझे बैठा कर वेदी साहब (अपने मेहमान को चलता करने के बदले मिठाई की तश्तरी और सोडे का गिलास अन्दर से ले आये और अपने उस अतिथि के आगे रखते हुए बोले, "लीजिये डाक्टर साहब, इतनी देर से आप बैठे हैं, कुछ खाइए न!"

डाक्टर साहब (जो बाद में मालूम हुआ कि किसी डाक्टर बनाने वाली कम्पनी से होम्योपैथ की डिग्री लिये हुए थे) कदाचित् अपने कारनामे सुना रहे थे। यद्यपि वेदी साहब ने 'इतनी देर' कहते हुए इन शब्दों पर ज़ोर दिया था, पर इस सूक्ष्म संकेत को वे क्या समझते? उन्हों ने बड़े आराम से तिपाई को खींचकर उस के नीचे घुटने

टिका दिये और अपनी बात जारी रखते हुए, मिठाई का एक एक टुकड़ा उठा कर मुँह में डालने लगे।

बेदी साहब के चेहरे पर एक रंग आने और एक जाने लगा। मुझे विश्वास है कि वे अपने मित्र को कभी भी टाल न सकते, पर अश्क जी ने कपड़े बदल कर आँगन ही से कहा—"अब अपनी कान्फ़्रेन्स ख़त्म करो यार, कुछ वक्त हमारे लिए भी रहने दो।"

कोई वज्र-मूर्ख ही होगा जो इतना सीधा संकेत भी न समझे। अतः डाक्टर साहब सहसा उठे और बेदी साहब से क्षमा माँग कर, फिर आने की प्रतिज्ञा करके चले गये और अश्क जी ने आकर संक्षेप में बेदी साहब को मेरा परिचय दिया, बेदी साहब फिर नयी मिठाई और सोडे की बोतलें लाने को भागे और अश्क जी थके हुए से पलंग पर लेट गये। वहीं लेटे लेटे इन्हों ने आँख की चोट से जो बात आरम्भ की तो अपने ज्वर के बावजूद अपने जीवन की सभी कहनी और अनकहनी बातें उस पहली ही मुलाक़ात में कह गये।

लेकिन 'सब से बेतकल्लुफ़ और सब के दोस्त' की दूसरी पराकाष्ठा भी है। यों तो अश्क जी मित्रों ही से नहीं, प्रायः पहली ही बार मिलने वालों से भी अपनी सब कहनी अनकहनी बातें कह देते हैं, किन्तु जिन्हें ये अपना शत्रु समझ लें (कोई इन का अपमान कर दे अथवा इन को धोखा दे दे तो) उस से प्रति-दिन मिलने पर भी उस पर अपने मंतव्य को प्रकट नहीं होने देते। और दस वर्ष बाद भी अपने अपमान का बदला लेने से नहीं चूकते। अपने चरित्र की इस त्रुटि से ये अनभिज्ञ हों, यह बात नहीं। बात चल पड़े तो अश्क जी इसे बर्बरता का लक्षण मानते हैं और सदा इस भावना से मुक्ति पाने का संकल्प करते हैं, पर इन्हों ने ऐसे वंश में जन्म लिया है जहाँ दादा के अपमान का

बदला पोते चुकाते रहे हैं और जब कभी जान बूझ कर कोई इन का अपमान करता है तो अपनी इस जन्म-जात भावना से विवश हो, ये सारी फ़िलासफ़ी भूल कर, उस का बदला लेने को तत्पर हो जाते हैं। न उस अपमान को भूलते हैं, न उस समय तक शान्ति पाते हैं जब तक उस का बदला न ले लें या जब तक दूसरा क्षमा न माँग ले।

इन की क्षमा का किस्सा भी दिलचस्प है। कई बार ऐसा होता है कि किसी से धोखा खाने या अपमान पाने पर जी में कुढ़ते और अपने अपमान का बदला लेने की स्कीमें सोचते रहते हैं कि वह अपने कृत्य पर खेद प्रकट कर देता है। बस ये सब कुछ भूल कर फिर उस के गुण गाने लगते हैं।

अभी तीन चार वर्ष पहले इन के एक मित्र ने धोखे के साथ हम से न केवल दिल्ली वाला मकान (जहाँ अश्क जी के बम्बई आने पर मेरा भाई रहता था।) लेकर किसी को दे दिया, बल्कि वहाँ मेरे भाई का जो सामान था, वह भी ठिकाने लगा दिया। अश्क जी ने सुना तो बड़े तिलमिलाये। लेकिन जिन साहब को उस ने मकान दिया, वे भी साहित्यिक मित्र थे। उन्हो ने ठीक बात जानते ही लिख कर खेद प्रकट किया। तब न केवल अश्क जी ने मकान वापस लेने का कोई प्रयास न किया, बल्कि मालिक-मकान को लिख कर उन्हें वहाँ स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया, और जिस मित्र ने धोखा दिया था, उस से बदला लेने का ध्रुव-निश्चय किये रहे।

पिछले दिनों जब डाक्टरों से परामर्श लेने पंचगनी से बम्बई गये तो कहीं वह भी बम्बई ही में था। उसे इन के वहाँ होने का पता चला तो मिलने चला आया। जाने क्या बातें हुईं पर वह माफ़ी माँग गया। वापस आये तो बोले, "कदाचित् —— पंचगनी आये।"

मैं हैरान इन के मुँह की ओर देखने लगी।

तब बताने लगे कि कैसे वह मिला था, कैसे अपने कृत्य की सफ़ाई देता था; कैसे इन्हों ने उसे निरुत्तर कर दिया; कैसे पाकिस्तान में उस की बड़ी हानि हुई है; कैसे उस ने अपने कृत्य पर अफ़सोस प्रकट किया, आदि आदि......

जब इस सफ़ाई पर भी मेरे चेहरे का भाव न बदला तो कहने लगे, "जब उस ने माफ़ी माँग ली तो क्या मैं उसे फाँसी पर लटका देता। बम्बई में गर्मी है, मैंने पंचगनी आने को कह दिया। अब हटाओ इस क़िस्से को।"

और यह कह कर बेपरवाही से सिर झटका कर ये अपने काम में व्यस्त हो गये।

अश्क जी कपड़ों के सम्बन्ध में बड़े बेपरवाह हैं। लोगों ने इन्हें हर प्रकार के लिबास में आवृत्त देखा होगा, पर सूट-बूट, अचकन-टोपी, कमीज़-शलवार, धोती-कुर्ता आदि सब भूषाओं के बावजूद इन्हें तहमद पहने नंगे बदन रहना बड़ा पसन्द है। पहले पहल सूट आदि ये तभी पहनते थे जब इन्हें सरकारी दफ़्तर में किसी से मिलने जाना होता, नहीं तो सारा दिन घर में नंगे बदन, तहमद और कभी कभी कच्छा पहने बैठे रहते। फिर जब स्वयं सरकारी दफ्तर में नौकर हुए तो यद्यपि निरन्तर पेंट आदि में आवृत्त रहना पड़ा, पर तहमद से इन का मोह नहीं गया। जब भी घर में होते तहमद पहनते।

दिल्ली में ये आल इंडिया रेडियो में नये नये मुलाज़िम हुए थे। गर्मी का मौसम था, परन्तु संध्याएँ अपेक्षाकृत ठंडी हो गयी थीं। एक शाम खाना खाने के बाद बोले—"चलो ज़रा सैर की जाय।"

अपने स्वभाव के अनुसार केवल तहमद पहने हुए थे। मुझे तो

बड़ी बदतमीज़ी मालूम होती थी, लेकिन नयी नयी आयी थी, अधिक ज़ोर न देती थी। धीरे से मैंने कहा—"कपड़े तो बदल लीजिए!"

कहने लगे—"फिर सैर का मज़ा क्या ख़ाक आयेगा? ठंडी ठंडी हवा में नंगे बदन घूमने का जो लुत्फ़ है, वह कपड़े ठोंस कर जाने में कहाँ?"

"मैं तो नहीं जा सकती"

बोले—"इस समय सड़क पर कौन होगा?"

"तो भी" मैंने कहा, "मैं नहीं जाऊँगी।"

"तो मैं ही आता हूँ, 'महिन्दर' को ले लूँगा।"

महेन्द्र उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक श्री कृष्ण-चन्द्र के छोटे भाई हैं। स्वयं भी उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। हमारे उन के घर साथ साथ थे। महेन्द्र भाई को साथ लेकर ये नंगे बदन, केवल तहमद पहने, उस की दायीं कोर को जालन्धरियों के ख़ास अंदाज़ में उठाये जा रहे थे कि इन के एक सहकारी, जो आल-इंडिया-रेडियो में संगीत विभाग के इंचार्ज और स्वयं भी बहुत अच्छे संगीतज्ञ थे, आते दिखायी दिये। बूलवर्ड रोड पर बिजली का प्रकाश तो है, पर दोनों ओर नीम के घने पेड़ों के कारण वहाँ अँधेरा सा रहता है। शाम ही से वहाँ सन्नाटा छा जाता है। उस समय साढ़े नौ बजे थे। सड़क सूनी थी और वे महाशय आकाश की ओर मुँह किये कोई धुन बनाते और गुनगुनाते चले आ रहे थे।

बढ़ कर अश्क जी ने उन के कंधे पर हाथ मारा—"क्यों भाई किधर?"

उन साहब का ध्यान अपनी धुन में था; सड़क पर ख़ासा अँधेरा था। चन्द दिन पहले उस स्थान के समीप ही एक रेडियो इंजीनियर पर घातक-आक्रमण हो चुका था, अश्क जी को इस वेश में देख कर वे तत्काल पहचान न सके—रंग उन का फ़क़ हो गया और क्षण भर वे

अश्क जी को मुटर मुटर तकते रहे। फिर जब इन्हों ने अपना गगनभेदी ठहाका मारा और महेन्द्र भाई ने बढ़ कर उन्हें 'आदाब' किया तो उन को जान में जान आयी। आश्चर्य से उन्हों ने पूछा—"क्या बात है, ऐसे घूम रहे हो?"

अश्क जी को इस में आश्चर्य की कोई बात दिखायी न देती थी। जो व्यक्ति बी० ए० तक लंगोट लगाये, शरीर पर तेल की मालिश किये, जालन्धर के भरे बाज़ारों में भागता फिरता रहा हो, जिसे किसी ने टोका न हो और जो इस बात का ज़िक्र बड़े गर्व-स्फीत-स्वर में करता हो, उसे दिल्ली की अपेक्षाकृत सूनी सड़क पर लंगोट नहीं, तहमद लगाये घूमने में क्या बुराई नज़र आ सकती है? "तुम निरे बौंचू आर्टिस्ट हो!" कहते हुए अश्क जी ने अपने सहकारी से हाथ मिलाया और आगे बढ़ गये।

इधर कुछ वर्षों से अश्क जी ने तहमद नहीं पहना और निरन्तर नौकरी करने के कारण अपने कथनानुसार अधिकांश समय "कपड़ों के कैदखाने में" बन्द रहे हैं, लेकिन न अभी तहमद का मोह छोड़ा है न नंगे बदन बैठने का। दिल्ली के बाद बम्बई में भी गर्मियों के दिनों जब घर पर काम करते, अपने पुराने स्वभाव के अनुसार, मात्र धोती अथवा मात्र अँडरवेयर में काम करते। यों भी कपड़ों के मामले में विचित्र सी विरक्ति इन्हें है। अकेले थे तो जो भी कपड़ा बाहर हुआ या ट्रंक के ऊपर हुआ, वही पहन लेते थे। मैं आयी तो जो भी मैं निकाल देती, वही पहन लेते हैं, किन्तु इस के बावजूद जब कभी जी से पहनते हैं, तो नफ़ासत पसन्दी की हद कर देते हैं। पहले पहल मुझे यह विरक्ति और आसक्ति बड़ी विचित्र लगती थी, पर अब मैं इन के स्वभाव की पराकाष्ठा-प्रियता की अभ्यस्त हो गयी हूँ।

दिल्ली ही की बात है। यह देख कर कि पास पैसे होते हुए भी ये बड़े भद्दे कपड़े पहनते हैं (कारण कुछ भी रहा हो। जब मैं आयी तो ए० आई० आर० की नौकरी के बावजूद गर्मियों के लिए इन के पास केवल तीन पतलूनें और तीन कमीज़ें थीं—नौकर धोकर लोहा करा लाता और ये बदल कर चले जाते, सर्दियों के लिए केवल एक सूट था) मैंने आते ही इन के 'न' 'न' करने पर भी दो बढ़िया गर्म सूट सिलवाये।

एक दिन जब मैंने नया सूट पहनने को निकाला तो टाई पसन्द की न होने के कारण छोड़ दिया। मैं उसी शाम कुछ बहुत अच्छी टाइयाँ ले आयी। दूसरे दिन कुछ देर से उठे। व्यायाम करते, हजामत बनाते और नहाते इन्हें देर हो गयी तो चिल्लाने लगे। जल्दी में कभी यह कमीज़ पहनते कभी वह, आख़िर जब सूट से मैच करती कमीज़ पहनी तो टाई पर काफ़ी देर अटके। बूट पर पालिश किया गया और आख़िर जब पूरी तरह संतोष हुआ तो नाश्ते का समय न था। किसी न किसी तरह ज़ोर देने पर नाश्ता करके भागे।

इन के जाने पर मैं हैरान खड़ी सोचने लगी कि कहाँ तो इतनी बेपरवाही कि क्या पहनते हैं, क्या नहीं पहनते, इस का होश नहीं और कहाँ इतनी नफ़ासत-पसन्दी कि कालेज के छोकरे भी मात खा जायँ। काम करते हुए मैं निरन्तर यही सोच रही थी, इन को गये पाँच छः मिनट गुज़र चुके थे और मैं मना रही थी कि मीटिंग के समय पर पहुँच जायँ ताकि इस देर का क्रोध मुझ पर न उतरे कि बरामदे में फिर इन के जूतों की आवाज़ सुनायी दी। मैं मेज़ की ओर भागी कि कोई फ़ाईल रह गयी हो तो देख कर जल्दी से दे दूँ। दूसरे क्षण आप दाख़िल हुए और सीधे अन्दर के कमरे में चले गये। मैंने पूछा—"क्या हुआ, क्या रह गया?" बोले—"कुछ नहीं!"

जाकर देखती हूँ तो शीशे के आगे खड़े वैनिशिंग क्रीम मल रहे हैं।

इनकी माता जी से एक बार बात चली तो कहने लगीं—"लड़कपन ही से इसकी ऐसी आदत है। नहीं पहनता तो नहीं पहनता, पहनता है तो नवाबज़ादों को मात करता है। एक बार सुरेन्द्र (बड़े भाई) के विवाह पर बढ़िया सिल्क का एक कोट सिलवाया। दर्ज़ी ने कहीं ऊपर की जेब ज़रा टेढ़ी कर दी। मुझे तो उस में कोई नुक्स न लगता था, पर इस ने वह एक बार पहन कर देखा तो फिर नहीं पहना।"

उन दिनों अश्क जी आठवीं या नवीं श्रेणी में पढ़ते थे।

इन के इस दो रूखे स्वभाव का एक दिलचस्प प्रमाण मुझे उन्हीं दिनों फिर मिला। दिल्ली ही की बात है। मैंने इन्द्रप्रस्थ-गर्ल्ज़-हाई-स्कूल में नौकरी कर ली थी, लड़कियों की परीक्षाएँ हो चुकी थीं और पेपरों का ढेर का ढेर आया पड़ा था। उन्हीं दिनों नौकर भाग गया। किसी प्रकार रात का खाना पका, बर्तन कपड़े आदि उसी तरह छोड़ मैं पेपर देखने लगी और रात के दो बजे तक देखती रही। यों भी मैं सुबह देर से उठती हूँ। उस दिन कुछ और देर हो गयी। उठते ही पहली दृष्टि जिस चीज़ पर पड़ी, वे रस्सी पर सूखने के लिए डाले हुए धुले धुलाये कपड़े थे। चकित हुई कि ये किस ने धोये। समझा शायद प्रातः ही कोई नौकर आ गया है। खुशी से भागी भागी अन्दर गयी तो देखा—रसोई-घर में बाप-बेटा (अश्क जी की पहली पत्नी से एक लड़का है) बैठे बर्तन मल रहे हैं और अश्क जी अपने लड़के को बर्तन मलने की कला में निपुण बना रहे हैं।

अवाक्, मर्माहत चौखट पर खड़ी मैं सब देखती रही। फिर बढ़ कर मैंने कहा—"हटिए, यह क्या कर रहे हैं! क्या मैं मर गयी हूँ जो बर्तन मलने आ बैठे हैं।"

कहने लगे—मरने का नाम न लो, चौथी बीवी अब मुझे कहाँ से मिलेगी !"

मैंने कहा—"हटाइए, यह मज़ाक मुझे पसन्द नहीं।"

लेकिन इन्हों ने मुझे बर्तनों को हाथ नहीं लगाने दिया। कहने लगे—"मेरे तो हाथ सने हुए हैं, तुम क्यों व्यर्थ में हाथ ख़राब करो। तुम से बुरे नहीं मलूँगा, इतना विश्वास रखो। स्कूल के दिनों में वर्षों मले हैं। जाओ जल्दी तैयार हो जाओ, स्कूल को देर हो जायगी।"

विवश हो मैं चली गयी। सौभाग्य से उसी शाम नौकर मिल गया नहीं जाने ये कब तक घाटी* बने रहते।

लेकिन इस घटना के चन्द दिन बाद का ज़िक्र है। इतवार का दिन था। मैं बाहर आँगन में बैठी पेपर देख रही थी और अश्क जी अन्दर मेज़ पर बैठे लिख रहे थे कि मुझे आवाज़ पड़ी। मुझे उठने में देर हो गयी कि फिर आवाज़ पड़ी। पेपर छोड़ भागी गयी कि न जाने क्या बात हो गयी। बोले—"ज़रा वह डिक्शनरी देना।"

डिक्शनरी दो क़दम के अन्तर पर पड़ी थी। मेरे सम्मुख चन्द दिन पहले कपड़े धोने और बर्तन मलने का दृश्य घूम गया। डिक्शनरी देते हुए सोचने लगी कि जो आदमी ऐसी शाहाना-आराम-तलबी का मालिक हो सकता है कि दो क़दम उठ कर चीज़ लेने के बदले दूसरे को दूर से बुलाये, वह कपड़े धोने या बर्तन मलने जैसा कठिन काम कैसे कर सकता है।

परन्तु यही उतार चढ़ाव और पराकाष्ठाएँ हैं जो अश्क जी के स्वभाव की रूप-रेखा बनाती हैं। अश्क जी का स्वभाव ऐसे शान्ति-प्रिय

*घाटी=बम्बई में बर्तन आदि मलने वाले साधारण नौकर=घाट के निवासी।

व्यक्ति का सा नहीं जो पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर उस पर डेरा डाल ले, बल्कि ऐसा चंचल राही है जिसको कभी पहाड़ के शिखर पसन्द हैं, कभी गहरी घाटियाँ। जो कभी जन-संकुल नगरों को पसन्द करता है और कभी निर्जन-वीरानों में जा रमता है। पराकाष्ठाएँ उसे पसन्द हैं। कोई एक सीमा-रेखा अथवा मध्य का मार्ग उसे रुचिकर नहीं। बचपन ही से अश्क जी का जीवन घटना-पूर्ण रहा है। इन्हों ने अतीव कड़वे प्याले भी पिये हैं और मीठे भी; बाहुल्य भी देखा है और अभाव भी; अपार प्रेम भी पाया है और तीव्र उपेक्षा भी और न जाने किन जन्मजात संस्कारों और माता-पिता के किन गुण दोषों और किन दूसरी सामाजिक, शारीरिक अथवा मानसिक विषमताओं के कारण इनका स्वभाव ऐसी आत्म-विरोधी पराकाष्ठाओं में घड़ी के पेंडुलम की भाँति चलता रहता है—टहाके मारते हैं तो छत फटती सी मालूम होती है और कभी, जब किसी आत्मीय की ओर से ठेस पहुँचने पर, रो पड़ते हैं तो समझ में नहीं आता कि कैसे इन्हें सान्त्वना दी जाय। एक क्षण में ऐसे दुर्बल कि अनायास दया हो आय, दूसरे क्षण ऐसे सबल कि पहाड़ से भी लोहा ले लें। फक्कड़ ऐसे कि क्या पहनते हैं उसका ध्यान नहीं, क्या कहते हैं, इसकी परवाह नहीं, पर दूसरे अवसर पर इतने नफ़ासत-पसन्द कि भूषा की छोटी से छोटी तफ़सील (डीटेल) का ध्यान रखने वाले और इतने संस्कृत तथा संकोचशील कि मुँह से हर शब्द जाँच तोल कर निकालने वाले। कभी ऐसे उदार कि बड़ी से बड़ी बात क्षमा कर दें और कभी इतने संकीर्ण कि छोटी से छोटी बात से रातों की नींद हराम कर लें और जब तक उसका बदला न ले लें, चैन न पायँ। कभी ऐसे कंजूस कि कष्ट सह कर पैसा पैसा जोड़ें और कभी ऐसे फ़िजूल-ख़र्च कि इतने कष्ट से संचित पूँजी क्षण भर में ख़र्च कर दें। कभी अनिश्चय के ऐसे शिकार कि अपना और दूसरों का जीवन नष्ट कर दें और कभी

ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ कि दो टूक फैसला करके, उससे इंच भर भी न हटें। कभी अतीव कठोर कभी अति कोमल। कभी ऐसे सजग कि बड़े से बड़े लम्पट से धोखा न खायें और कभी ऐसे निरीह कि साधारण व्यक्ति भी ठग कर चला जाय—इन्हीं पराकाष्ठाओं को लेकर अश्क जी के इस आत्म-विरोधी स्वभाव के सम्बन्ध में इतनी दिलचस्प घटनाएँ हैं कि छोटे से लेख में उन पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

लेकिन जिस प्रकार प्रत्येक सामान्य धर्म का कोई न कोई अपवाद होता है, अश्क जी के इस आत्म-विरोधी सीमाओं पर चलने वाले स्वभाव के भी अपवाद हैं। पिछले सात वर्ष में मैंने उन के स्वभाव के ऐसे पहलू भी देखे हैं जिन की केवल एक ही सीमा है। दूसरी आत्म-विरोधी सीमा नहीं।

इन के लिखने ही को लीजिये। लिखने की इन को सनक सी है। और यह सनक पराकाष्टा ही का दूसरा नाम है। प्रायः लेखकों के अपने उर्वर और ऊसर काल (Periods) होते हैं। कभी ऐसा समय आता है जब उन की प्रेरणा बाढ़ पर आये हुए समुद्र सी बलवती हो बढ़ी आती है और वे रात दिन निरन्तर लिखे चले जाते हैं। फिर ऐसा समय भी आता है कि प्रेरणा की बाढ़ उतर जाती है और उन का मस्तिष्क सूखे सागर-तट सा हो जाता है। वे हफ़्तों, महीनों और कई बार वर्षों कुछ नहीं लिख पाते। अश्क जी को मैंने देखा है कि ये सदा लिखते हैं। वर्षा, घाम और शीत में अविरत बहने वाली नदी की भाँति इन की प्रेरणा स्थायी रहती है। ये दुखी हों अथवा सुखी, नौकर हों अथवा बेकार, अकेले हों अथवा दुकेले, सदा लिखने को समय निकाल लेते हैं। इन के मित्र इनकी इस प्रवृत्ति को 'सनक' का नाम देते हैं। यह सनक है भी, पर इनकी यह सनक एक ही सीमा पर चली जाती है। इसकी दूसरी सीमा अर्थात् निष्क्रियता का अश्क जी के यहाँ सर्वथा अभाव ही है। लिखे बिना ये रह ही नहीं पाते। अभी एक वर्ष पहले जब

डाक्टरों ने यक्ष्मा का फ़तवा देते हुए आदेश दिया कि इन्हें पूर्ण आराम लेना चाहिए तो मैं समझती थी कि अब ये कुछ दिन चैन लेंगे। अलग कमरे में लिटा दिया और दरवाज़ा लगा दिया कि न कोई होगा, न ये बात करेंगे। इन्हो ने न लिखा, न पढ़ा, न बोले परन्तु लेटे लेटे स्मृति के बल पर ही "दीप जलेगा" सी लम्बी कविता बनाते रहे। एक महीने बाद मैं इन्हें पंचगनी ले आयी और चार महीने तक इन्हें काम करने की आज्ञा नहीं मिली तो ये लेटे लेटे खंड-काव्य लिखते रहे। "बरगद की बेटी" इन्हों ने तभी समाप्त किया।

साधारणतः अश्क जी सगे-सम्बन्धियों और मित्रों से उसी मात्रा में स्नेह करते हैं जिस मात्रा में इन्हें उन से स्नेह मिलता है, किन्तु माँ, बड़े भाई और सब से छोटा भाई इस के अपवाद हैं। माँ और बड़ा भाई चाहे इन से कैसा भी रूखा व्यवहार क्यों न करें, चाहे कभी कितनी भी ठेस पहुँचा दें, ये उन की उदासीनता और रुखाई का बदला सदैव स्नेह से देते हैं। उन के व्यवहार से दुखी न होते हों, यह बात नहीं। कभी कभी कोई छोटी मोटी घटना रातों की नींद हराम कर देती है। ये उन के व्यवहार पर खीजते दुखते, रोते-चिल्लाते और क्रुद्ध भी हो जाते हैं, किन्तु उन से मिलने पर सब कुछ भूल जाते हैं और उन के दुख से दुखी और चिन्ता से चिन्तित हो उठते हैं।

इसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में भी इन का स्नेह एक ही सीमा-रेखा पर चलता दिखायी देता है। अश्क जी कहा करते हैं कि जिसे हम पसन्द करते हैं, प्यार करते हैं, जिस की मित्रता चाहते हैं, उस की त्रुटियों को देखना अनावश्यक है। उस की संगति से हमें जो सुख मिलता है, वही हमारा ध्येय होना चाहिए। मित्रता एक तरफ़ी सी चीज़ है। जिसे हम चाहते हैं, उसे मित्र बनाये रखने के लिए उस की छोटी मोटी बातों पर ध्यान न देकर, निरन्तर स्नेह देना चाहिए। प्रतिशोध की तो बात

ही वहाँ नहीं उठती। और मैंने देखा है कि अपने घनिष्ट मित्रों के सम्बन्ध में अश्क जी सदा अपने इस कथन का पालन करते हैं।

अश्क जी की एक और भी सनक थी जिसकी दूसरी सीमा मैंने नहीं देखी और वह थी नियमित रूप से व्यायाम करना। विवाह के बाद जब मैं नयी नयी दिल्ली आयी तो मैंने देखा कि सुबह उठ कर लंगोट लगा, तेल की मालिश करके, डंड पेलते, बैठकें निकालते और फ्री-हैंड-व्यायाम करते हैं। बेदी साहब उन दिनों दिल्ली आये हुए थे। उन्हों ने कभी अश्क जी को फ्री-हैंड-व्यायाम करते न देखा था। उस उछल कूद को देख कर उन्हों ने अश्क जी को 'हनुमान' की उपाधि दे दी। लेकिन अश्क जी धुन के पक्के हैं। किसी के मज़ाक अथवा व्यंग्य को सुन कर अपनी धुन नहीं छोड़ते। मुझे पेचिश की पुरानी शिकायत है, दौरा पड़ता है तो निढाल हो जाती हूँ। एक दिन मुझ से कहने लगे 'तुम व्यायाम नहीं करतीं, इसी लिए तुम्हारी आँतें कमज़ोर हो गयी हैं'। हमारे यहाँ पुराने ज़माने की स्त्रियाँ घर के काम-काज के रूप में और पश्चिम की स्त्रियाँ नाच और दूसरे व्यायामों के रूप में जितनी कसरत करती हैं और स्वस्थ रहती हैं, उस का ज़िक्र करते हुए, इन्हों ने व्यायाम के महत्व पर छोटा मोटा भाषण दे डाला। साँस रोक कर, सीने को फुला कर, मुझे बताने लगे किस प्रकार उस व्यायाम से कमर पतली हो जाती है और सीना फूलता है और शरीर की तिकोन बन जाती है और परामर्श दिया कि और कुछ नहीं तो पेट अन्दर कर, साँस रोक, सीना फुला, रस्सी ही फाँदा करूँ, व्यायाम की महत्ता पर इतने लेक्चर इन्हों ने मुझे उन दिनों दिये और बेदी साहब के कथनानुसार 'हनुमान' की भाँति कूद-फाँद कर इतने तरह के व्यायाम बताये कि मैं भी व्यायाम द्वारा अपनी बीमारी दूर करने और कमर पतली बनाने का प्रयास कर देखने को तैयार हो गयी। (यहाँ मैं बता दूँ कि

न अश्क जी मोटे हैं न मैं, किन्तु उनकी कमर तो साँस रोकने पर उल्टी तिकोन के निचले कोण सी बन जाती थी। मेरी कदाचित न बनती थी) कुछ दिनों तक तो मैंने कूद-फाँद की, लेकिन एक तो मुझे सुबह उठने का अभ्यास नहीं, फिर यह व्यायाम मुझे अत्यन्त शुष्क और ऊबा देने वाला लगा और आँतों को कोई लाभ न पहुँचा। कुछ दिन पश्चात् ही मैंने हथ्यार डाल दिये और विनीत भाव से कहा कि कमर की तिकोन आप ही को मुबारक रहे, मुझे किसी सौन्दर्य-प्रतिद्वन्दता में तो बैठना नहीं। मुझे क्षमा कीजिए।

अश्क जी ने फिर मुझे विवश नहीं किया, परन्तु स्वयं वह उछल कूद करते रहे। समय होता तो मालिश भी करते नहीं डंड बेठकें चाहे न पेलें पर उछल कूद ज़रूर करते। कई बार मैं नाश्ता रख देती, ये लगभग नाश्ते पर बैठ जाते तो इन्हें व्यायाम का ख्याल आता। "बस दस मिनट के लिये क्षमा करो!" कह कर भाग जाते और पेट दबा, सीना फुला, शरीर को तिकोन बना, उछल कूद कर आते। आकर अपने संयम की दाद चाहते। कभी कभी शीशा देखते तो अफ़सोस होता कि इतने संयम और व्यायाम के बावजूद कल्ले पिचके जा रहे हैं। तब बाज़ू को दोहरा कर, उभरे हुए पट्ठे की सख्ती देख कर संतोष कर लेते कि व्यायाम से शरीर में लोहे की सी दृढ़ता आ रही है।

मैं जब से आयी हूँ मैंने इन्हें नित्य-प्रति व्यायाम करते देखा है। लेकिन इतने व्यायाम के बावजूद इन्हें पेट में कष्ट रहने लगा। अपनी सनक में इन्होंने व्यायाम की मात्रा कुछ और बढ़ा दी और किसी भले-मानुस के कहने पर उबली हुई तरकारियाँ खानी आरम्भ कर दीं। अपने स्वभाव के अनुसार इस बात को भी एक सीमा तक ले गये। परिणाम यह है कि पिछले एक वर्ष से बीमार पड़े हैं। समय पर पता

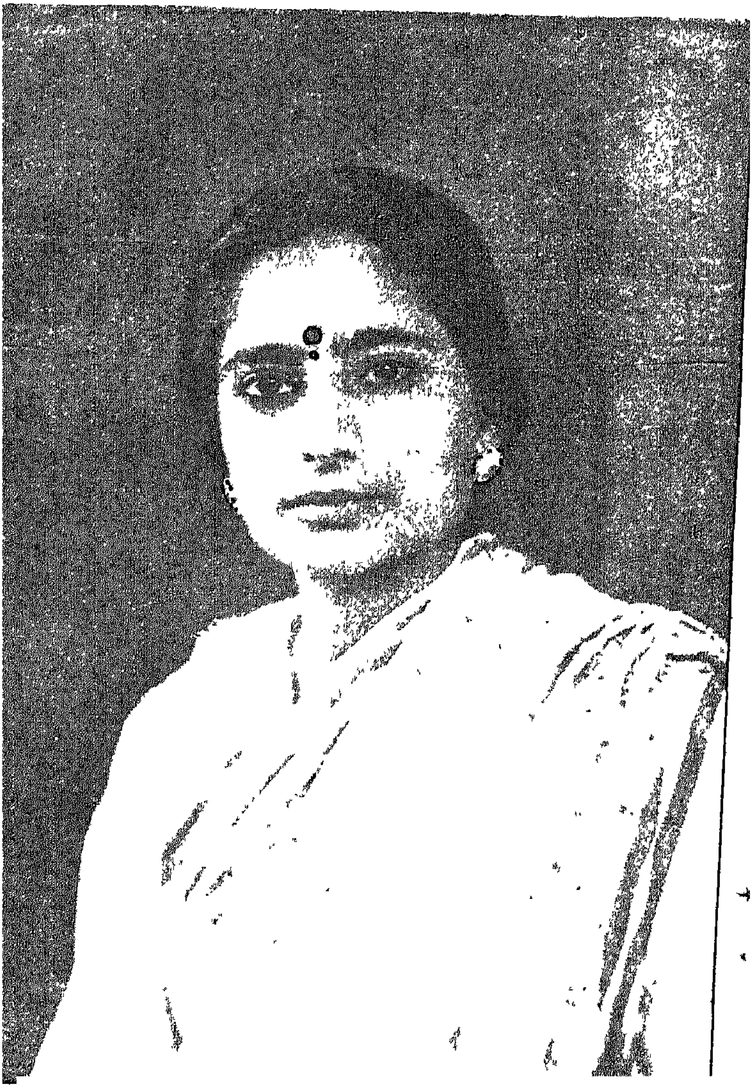
चल गया कि बीमारी आमाशय में नहीं, फेफड़े में है, नहीं जाने क्या बीतती। 'जब प्रातः 'उठ कर और साँस रोक कर, शरीर को तिकोन बनाया करते थे, उस समय आवश्यकता यह थी कि बिस्तर पर कुछ और लेट कर आराम करते और उबली हुई तरकारियों के स्थान पर पौष्टिक भोजन खाते। यह सब जान कर अब ये एक ज़ोर का ठहाका मारना चाहते हैं, किन्तु अब इस की भी आशा नहीं, क्योंकि इस से फेफड़े को हानि पहुँचती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि अश्क जी बीमार न पड़ते तो इन की यह सनक सदैव रहती। इस की दूसरी सीमा अर्थात् पूर्ण आराम ये कभी न ले पाते।

अब यक्ष्मा से पीड़ित पिछले एक वर्ष से पंचगनी के एकान्त में पड़े हैं। मन-मस्तिष्क आठों पहर व्यस्त रहते है पर तन से आराम लेने को विवश हैं। यक्ष्मा की इस विवशता ने इन्हें थोड़ा बहुत दार्शनिक बना दिया है और इन का स्वभाव अपनी 'पराकाष्ठा-प्रियता छोड़ कर मध्य की रेखा पकड़ना सीख रहा है पर वह सीख पायगा और स्वस्थ होने पर वह सीख स्थायी रहेगी, यह कहना कठिन है।

पंचगनी
दिसम्बर १९४७

कौशल्या अश्क



कौशल्या—एक रेखा चित्र

(अश्क)

कौशल्या छोटे क़द और छरहरे शरीर की, साधारण दिखायी देने पर भी असाधारण प्रतिभा की, स्त्री है। रंग उस का काला है न गोरा; पंजाबी इस रंग को मुश्की कहते हैं और पंजाबी भाषा में इस रंग के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'रंग मुश्की, न खंघ न खुश्की'—अर्थात् रंग मुश्की, न खाँसी न खुश्की—खुश्की से अभिप्राय क़दाचित स्वभाव की खुश्की अर्थात् रुखाई से है। और स्वभाव में रुखाई का न होना स्वयं स्वास्थ्य का द्योतक है। मैं आज तक नहीं समझ सका कि इस रंग को स्वास्थ्य अथवा हँसमुखता का प्रतीक क्यों माना जाता है। जहाँ तक कौशल्या का सम्बन्ध है, वह तो इस रंग के बावजूद सदा बीमार रहती है और स्वभाव में भी (यदि उस की हँसमुखता और चिड़चिड़ेपन को मिला कर औसत लगायी जाय तो) कदाचित चिड़चिड़ेपन ही का पलड़ा भारी निकले। और जो बात कौशल्या के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वह (मेरे जैसे) दूसरे

मुश्की रंग वालों पर भी लागू हो सकती है। लेकिन मेरे विचार में पंजाबियों को अपना यह रंग पसन्द है। न अधिकांश पठानों की भाँति गोरा, न अधिकांश मदरासियों की भाँति काला और उन्हों ने इस रंग को स्वास्थ्य का चिन्ह मान लिया है।

कौशल्या को पत्र लिखने में अपूर्व दक्षता प्राप्त है। उस के सम्बन्ध में कुछ लिखते समय मुझे सब से पहले इसी बात का ध्यान क्यों आया? कदाचित इसलिये कि मैंने कौशल्या को देखने से पहले उस के पत्रों को देखा। यह बात कुछ रूमानी कहानियों की सी लगेगी (कौशल्या को अभी तक इस का विश्वास नहीं, और कदाचित पाठकों को भी न आये) कि मैंने उस का पहला पत्र पाने के बाद ही उस से विवाह करने का इरादा कर लिया था। बेदी (उर्दू के प्रसिद्ध लेखक राजिन्दर सिंह बेदी) मेरे इस फक्कड़पने के गवाह हैं। इस के बाद जो हुआ, वह दिल-चस्प भी है, दुखद भी और उलझा हुआ भी। क्योंकि उस में एक ओर असमय में प्रौढ़ हो जाने वाले असमंजस-प्रिय व्यक्ति का अनिश्चय और सहज-ज्ञान के बदले तर्क से काम लेकर सीधे तारों को उलझा देने की प्रवृत्ति थी तथा दूसरी ओर एक सरल युवती की प्रबल इच्छा-शक्ति! किन्तु यह बात मैं आज सात वर्ष बाद भी बे-झिझक कह सकता हूँ कि यदि कौशल्या को पत्र लिखने में, और बात सच्ची हो या झूठी, लिखी हुई पंक्तियों में हृदय की समस्त भावना भर देने में अपूर्व-दक्षता प्राप्त न होती तो हमारे जीवन के अतीव उलझे हुए तार कभी न सुलझ पाते।

कौशल्या ने लाहौर के बड़े ऊँचे और सम्पन्न व्यापारिक घराने में जन्म लिया, किन्तु जैसा कि उसने स्वयं एक जगह लिखा है— बचपन के दिन अतीव लाड़, प्यार और बाहुल्य में व्यतीत कर, बचपन

की समाप्ति पर, अपने आप को उस ने 'मणि माणिक में घिरे उस व्यक्ति का सा पाया जिसे उन सब को छू न सकने का अभिशाप दे दिया गया हो।' वह लगभग बारह वर्ष की थी जब २८ दिन के अन्तर से, पहले उस के पिता और फिर माता, उस लाड़-प्यार और बाहुल्य की मात्र धुँधली सी स्मृति देकर, कौशल्या को आस-पास की उस सम्पन्नता में बड़े अभाव की संगिनी बना कर इस संसार से चले गये। उस समय जब उसके सगे-सम्बन्धी, उसे अनाथ समझकर, किसी 'ज़रूरतमंद' पर सम्पन्न व्यक्ति के हाथ सौंप कर इस बोझ को अपने कन्धों से उतारने की चिन्ता में थे, कौशल्या ने अचानक वर्षों से छोड़ी हुई पढ़ाई का तार फिर से पकड़ने का निश्चय कर लिया और फिर सगे-सम्बन्धियों के समस्त विरोध और असहयोग, निन्दा और लाँछना के बावजूद अपने छोटे मामा की सहायता से वह निरन्तर पढ़ती रही।

वह केवल चार श्रेणी तक पढ़ी थी और पढ़ाई छोड़े उसे चार वर्ष हो चुके थे, परन्तु उस ने 'रत्न, भूषण' के पश्चात् मिडिल की परीक्षा दी, फिर दो वर्ष बाद प्राईवेट रूप से मैट्रिक किया और न केवल उसमें सफल रही बल्कि छात्रवृत्ति पा गयी। इस के बाद बी० ए० तक वह सदैव अपनी श्रेणी और अपने कालेज में सर्व-प्रथम रही। बी० टी० करने के पश्चात् वह रेनाला में, नयी नयी हैडमिस्ट्रेस हुई थी, जब मैं लाहौर में पहले पहल उस से मिला।

वह मुलाक़ात भी, आज जब मैं उसे सात वर्ष बाद देखता हूँ, बड़ी दिलचस्प लगती है। ठीक वर्ष और महीना तो मुझे याद नहीं, पर कौशल्या के चन्द पत्र आ चुके थे, और एक पत्र में उस ने मुलाक़ात की इच्छा प्रकट की थी। हम ने तय किया था कि इतवार को लाहौर में मिलेंगे। वह रेनाला से और मैं प्रीतनगर से लाहौर पहुँच जाऊँगा। दुर्भाग्य-वश उस इतवार से तीन दिन पहले हाकी खेलते खेलते मेरी

Pratapgarh

आँख पर ज़बर्दस्त चोट आ गयी। चश्मे का शीशा टूट कर आँख के नीचे खुब गया, गोश्त का लोथड़ा लटक गया और घाव आँख की पुतली के पास तक पहुँच गया। डाक्टर दो मील दूर लोपोके में रहता था। संध्या का अँधेरा गहरा हो रहा था। उस समय (कम से कम मुझ ऐसे गरीब के लिए) उस के आने की कोई सम्भावना न थी। दूसरे दिन उस के आते आते यदि घाव में पीप पड़ जाती तो मेरा काना होना यकीनी था, और कौशल्या लाख भावुक सही, काने कवि से विवाह करने में उस को भी आपत्ति होती (यों इन स्त्रियों का कोई भरोसा नहीं। चाहें तो काने छोड़, अंधे से लौ लगा लें) उस समय पड़ोसियों के 'न' 'न' करने पर भी मैंने रुई का फाहा स्पिरिट में तर किया; दाँत भींचे और उसे घाव पर रख दिया। दूसरे दिन जब डाक्टर आया तो मालूम हुआ कि उस फाहे ने मेरी आँख बचायी।

इधर की चिन्ता हटी तो कौशल्या के साथ मुलाक़ात का ख्याल आया। कार्ड लिख कर विवशता प्रकट करने का समय न था। तार देने के लिए आठ दस मील जाना पड़ता था। कौशल्या रेनाला, ज़िला मॉन्टगुमरी से लाहौर आने वाली थी और मैं न चाहता था कि वह निराश हो कर वापस चली जाय। फिर उसे देखने की उत्सुकता भी थी, इसलिए यद्यपि इतवार को पट्टी न उतरी थी और मेरी तबीयत भी कुछ खराब थी तो भी मैं लहौर के लिए चल पड़ा।

जब कौशल्या ने भाई साहब की सरजरी की चिक उठा दोनों हाथ जोड़ कर 'नमस्कार' किया तो मुझे पहिचानने में मुश्किल न हुई। मेरा छोटा भाई उस के मामा के यहाँ यह बताने गया था कि मैं आ गया हूँ; आँख पर चोट के कारण पट्टी बाँधे हुए हूँ, उन के यहाँ नहीं आ सकता। भाई ने आकर कौशल्या के सम्बन्ध में कुछ ज़रूरी बातें भी बता दी थीं।

जिन में (ऐसा कौशल्या कहती है) तीन तीन बकलस और तीन तीन स्टड लगे थे । हो सकता है हम दोनों के मन में अज्ञात रूप से यह भावना काम करती हो कि हम जो हैं, उससे भी कम दिखायी दें । जो भी हो कौशल्या की लौह-गम्भीरता के सामने, उस की यह पिघले सोने की सी मुस्कान न जाने किस चमत्कार से उस के मुख को एकदम परिवर्त्तित कर उसे एक विचित्र मनोरमता प्रदान कर देती है ।

कटु मुस्कान नाम की चीज़ भी मैंने सुन रक्खी थी, देखी न थी । कौशल्या के साथ अपने विवाह के पहले दिनों में (मैं स्वीकार करता हूं कि अधिकाँशतः अपनी हिमाकतों के कारण) मैंने उसे कौशल्या के ओठों पर देखा भी है । ओफ ! मुस्कान के मधु में इतना विष भी हो सकता है ! परन्तु मैं सच कहूँ, मुझे उस की वह कटु, व्यंग्यमयी, तिक्त, विषैली मुस्कान भी बड़ी भली लगती थी, और यह सत्य है कि कई बार मैं केवल वह विष भरा शहद उस के ओठों पर देखने के लिए उसे छेड़ दिया करता था । कौशल्या में विनोद-वृत्ति (sence of humour) कभी ज्यादा न थी । (अब भी उतनी नहीं, यद्यपि वह मुझे बनाना अथवा जैसे अंग्रेजी में कहते हैं 'मेरी कीमत पर' हँसना सीख गयी है ।) उन दिनों मैं जब भी उसे छेड़ता, या मेरी किसी बात से वह सहमत न होती तो मेरी बात का कोई उत्तर दिये बिना, तीखी निगाह से मेरी ओर देखते हुए कुछ इस तरह मुस्कराती कि मैं खिन्न होने के बावजूद उस की ओर देखता रह जाता । उस कटु-मुस्कान को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता । इस के बाद मैंने उस यन्त्रणा-प्रियता को छोड़ दिया, क्योंकि उस से मुझे भी तकलीफ़ पहुँचने लगी ।

[illegible]र अब तो वर्षों से वह तिक्त मुस्कान मैंने कौशल्या के ओठों पर किसी [illegible] देखी । परन्तु वह मेरे मस्तिष्क में अब भी सुरक्षित है ।

मुस्करा[illegible] यह अजीब बात है कि कभी जब कौशल्या अपनी किसी बुराई

मुस्का[illegible]

को स्वीकार करती हुई अनायास मुस्करा कर कह देती है कि 'हाँ मैं तो ऐसी हूँ' या 'जो मुझ से बुरा करेंगे, बुरा पायेंगे' आदि आदि तो मुझे उस की वह आत्म-व्यापक मुस्कान सभी मुस्कानों से सुन्दर लगती है। मैं चाहता हूँ कि उसे उस के इस व्यापक मूड में मुस्कराते देखूँ, पर मुसीबत यह है कि वह मूड रोज़ रोज़ नहीं आता। बुराई का ज़िक्र चलने पर मुस्कान के बदले आँखों में क्रोधाग्नि लपलपा उठने की सम्भावना अधिक रहती है और ओठ मुस्कराने के बजाय व्यंग्य-बाण छोड़ने को अधिक आतुर हो उठते हैं।

कौशल्या के पत्र और उस की मुस्कान जैसे उस के हृदय की सरलता और निष्कपटता का पता देती हैं और अनायास ही उन में उस के हृदय का विष अथवा मधु भर जाता है, उसी प्रकार उस की चाल उस की प्रबल इच्छा-शक्ति की द्योतक है। अब तो मेरी टिलमिलयक़ीनी और असमंजस का कौशल्या पर भी प्रभाव पड़ा है, और उस की चाल में वह काट और तेज़ी नहीं रही, पर जब मैं पहले पहल उस से मिला था तो उस की चाल का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उस गति में न वह नज़ाकत और नफ़ासत थी जिस के लिये लेखक 'माप माप कर पग धरने' का मुहाविरा प्रयोग में लाते हैं, न वह चांचल्य और मस्ती थी जिस के सम्बन्ध में कवि कहते हैं कि 'पग पग पर प्रलय उठाती है', बल्कि उस नदी की तेज़ी थी, जो मार्ग काटती-बनाती बढ़ी चली जाती है। कौशल्या ने अपनी कठिन परिस्थितियों में जिस दृढ़ता और प्रबल इच्छा-शक्ति से मार्ग बनाया, वह जैसे उस की चाल में मूर्तिमान हो उठी है। मुझे यह चाल पसन्द है, क्योंकि बीमारी के इन दिनों जब मुझसे कहा जाता है—'चलने की अपेक्षा खड़े रहो, खड़े रहने की अपेक्षा बैठो और बैठने की अपेक्षा लेटे रहो।' तेज़ चलना मेरे लिये स्वप्न हो गया

है और कौशल्या भी मेरे साथ बड़े धीरे धीरे चलती है, तो मुझे अपने उस आरम्भिक जीवन का स्मरण हो आता है जब मैं स्वयं इसी तेज़ी से चला करता था। इसी तरह बाज़ारों को काटता हुआ सा निकल जाता था, और शीला मेरी पहली पत्नी, कुछ अपने दोहरे शरीर और कुछ अपने मन्थर-स्वभाव के कारण मेरे पीछे रह जाती थी। अब मैं साधारण तेज़ी से चलने पर भी कौशल्या से पीछे रह जाता हूँ।

अब तो कौशल्या कुछ मेरे कारण और कुछ पिछले सात आठ वर्षों की परिस्थितियों के कारण (जिनमें वह लड़की से माँ भी बन गयी है) स्वयं अपेक्षाकृत धीरे चलती है, पर मुझे दिल्ली की वे शामें याद हैं, जब वह अपनी उसी विश्वास-भरी तीव्र-गति से मेरे साथ सैर को, क्रय-विक्रय को अथवा मिलिट्री की वर्दी पहने दफ्तर को जाती था और तेज़ चलना तो दूर रहा, मेरे साथ भागने में भी न हिचकिचाती थी।

तीस हज़ारी से एक बस नयी-दिल्ली जाया करती थी। कई बार जब हम बूलवर्ड-रोड से क्वीन्ज़ रोड की ओर मुड़ते थे तो सामने फरलाँग भर के अन्तर पर बस खड़ी दिखायी देती थी। इस डर से कि हमारे वहाँ पहुँचते पहुँचते बस चल न पड़े और हमें आध घंटा तक दूसरी बस की प्रतीक्षा करने के लिए विवश न होना पड़े, हम प्रायः भागने लगते और समय पर जा पहुँचते।

एक शाम की बात है। मेरे मित्र और उर्दू के प्रसिद्ध कहानी-लेखक महेन्द्र हमारे साथ थे। हम बूलवर्ड रोड से क्वीन्ज़ रोड की ओर जो मुड़े तो बस तीस हज़ारी पर खड़ी घरघरा रही थी। मैंने कहा, "भागें"! कौशल्या ने कहा, "महेन्द्र भाई से पूछिए।" महेन्द्र ने समझा हम मज़ाक कर रहे हैं। बोले, "भागिए!" परन्तु जब मैं और कौशल्या सच-मुच भागने लगे तो वे चौंके। चन्द कदम भागे, फिर उन्हों ने चाल

धीमी कर दी और बोले, "हटाओ जी क्यों जान दिये देते हो। दूसरी बस में जायेंगे।"

मुझे तब न जाने बस या गाड़ी को खड़े देख कर क्या हो जाता था ? भाग कर सवार होने में, लड़-झगड़ कर सवार होने से मैं कभी बाज़ नहीं रहा। बम्बई के दिनों में, एक बार चलती बस में चढ़ते चढ़ते और एक बार दूसरे प्लेटफ़ार्म पर खड़ी लोकल-ट्रेन में सवार होने की कोशिश में, लाइन फलाँगते हुए, मैं मरते मरते बचा हूँ। सदा ऐसे अवसरों के बाद मन ही मन प्रण करता कि अब कभी ऐसा न करूँगा। कई बार कौशल्या के सामने कसमें खाता। परन्तु फिर जब समय आता, भागने लगता और मज़ा यह कि जब भी ऐसे अवसर पर कौशल्या मेरे साथ होती, वह भी अपने सब उपदेश और नसीहतबाज़ी भूल कर मेरे साथ भागने लगती।

उन दिनों कौशल्या नयी नयी बम्बई आयी थी। एक सुबह स्टूडियो जाते समय मैंने उससे कहा कि वह साँझ को दफ्तर आ जाय। वहाँ से हम दादर जायेंगे और सम्भव हुआ तो सिनेमा देखेंगे। स्टूडियो मेरे घर से एक स्टेशन इधर गोरे-गाँव में था और स्टेशन से दो फरलाँग होगा। शाम को जब हम स्टूडियो से निकले तो अभी आधे रास्ते ही में थे कि दूर गाड़ी के आने की ध्वनि सुनायी दी। मैंने कहा, "चलो भाग कर गाड़ी पकड़ लें, नहीं बीस, तीस मिनट बैठना पड़ेगा।"

हम दोनों भागने लगे। कुछ दूसरे लोग भी भाग रहे थे। इन में से एक को छोड़ कर सब ने हिम्मत हार दी। हम भागते चले गये। गाड़ी स्टेशन पर आ चुकी थी और नम्बर दो प्लेटफ़ार्म पर खड़ी थी। एक महाशय जो हम से पहले पहुँचे थे, इस असमंजस में नम्बर एक प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे कि लाइनें फलाँगें या न फलाँगें। हम आते ही कूदे और लाइनें फलाँग कर लगभग चलती हुई गाड़ी में पिछली ओर से चढ़ गये। मेरे

साथ कौशल्या को इस तेज़ी से लाइन फलाँग कर गाड़ी में चढ़ते देख, वे महाशय चकित से खड़े रह गये। उन की आँखों का वह विस्मय-भरा भाव आज तक भी मुझे याद है।

परन्तु गाड़ी पर सवार होने की जल्दी में, हम ने यह न देखा कि गाड़ी फ़ास्ट (Fast) है। बाँदरा के बाद चली तो सीधी सेन्डहर्स्ट रोड जाकर रुकी। हम दादर में उतरने के लिए खिड़की में आ गये थे। जब गाड़ी वहाँ पर न रुकी और हम पर अपनी हिमाकत प्रकट हुई तो हम जाते हुए स्टेशन को हसरत से देखते और अपने आपको कोसते हुए खड़े रहे। सिनेमा तो क्या देखते उल्टे सेन्डहर्स्ट रोड जाकर चार्ज हो गये।

कौशल्या में उतनी ही स्फूर्ति और सरगर्मी है जितनी मुझ में। मैं तो खैर अपनी बीमारी के कारण अपनी समस्त स्फूर्ति भूल चुका हूँ, पर अपनी बीमारी के बावजूद (उसे पेचिश का पुराना रोग है) कौशल्या आज भी उतनी ही अनलस और उद्योगशील है। आज सात आठ वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात्, बीसियों विपत्तियों, उलझनों और घरेलू झगड़ों के कारण उसकी चाल की तीव्रता में चाहे कमी आ गयी हो, पर उस की कर्मठता और इच्छा-शक्ति की प्रबलता में कमी नहीं आयी। मुझे कई ऐसे अवसर याद हैं जब मैंने उस की इस कर्मठता को क्रिया-शील देखा है :—

अभी सवा साल पहले १९४६ के दिसम्बर में जब मुझ पर शूल रोग ने प्रबल आक्रमण किया (जो बाद में यक्ष्मा में परिणत हो गया) और मैंने कौशल्या को तार दिया तो वह दिल्ली में थी। वास्तव में मेरी तबीयत अर्से से ख़राब रहती थी। इसलिए फ़िल्मी नौकरी छोड़ कर पहले

की भाँति लाहौर में स्वतन्त्र रूप से शुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत करने की साध थी। कौशल्या काफ़ी सामान लेकर उसे छोड़ने लाहौर गयी थी। वहाँ बीमार हो गयी तो आते आते दिल्ली के प्रसिद्ध होम्योपैथ डाक्टर गुहा को दिखाने उतर गयी। तभी मेरा तार पहुँचा और बिना डाक्टर को दिखाये वह बम्बई चली आयी। मैं काफ़ी बीमार था, शूल के दोहरे आक्रमण ने मुझे निर्जीव सा कर दिया था। लेकिन कौशल्या को देखकर तो मैं अवाक् रह गया। पेचिश की शिकायत उसे सदा रहती है, लाहौर जाने से पहिले भी थी, लेकिन वह इतनी प्रबल है कि उस के कारण वह कंकाल मात्र रह गयी है, यह मुझे ज्ञात न था।

किन्तु ज्यों ही कौशल्या ने मुझे उस प्रकार निढाल देखा, अपना कष्ट भूलकर अपनी उसी इच्छा-शक्ति के बल पर वह काम में जुट गयी। डेढ़ महीने तक वह मुझ को इस डाक्टर अथवा उस वैद्य को दिखाती रही। जब कुछ लाभ न हुआ, बल्कि संध्या को मुझे ज्वर रहने लगा तो मैं के० ई० एम० अस्पताल में बीमारी का निरीक्षण कराने को दाख़िल हो गया। २२ दिन के निरीक्षण पर ज्ञात हुआ कि यक्ष्मा के कीटाणु तो न जाने कब से मेरे फेफड़ों में आँख-मिचौनी खेल रहे थे, पर मेरी प्रतिरोध-शक्ति को छू न पाये थे। अब कई कारणों से मेरी शक्ति कमज़ोर पड़ गयी थी और दाँये फेफड़े के ऊपरी भाग में उन्हों ने उसे धर दबाया था। उस दुर्बल सहन-शक्ति को सबल बनाने के हेतु लम्बे आराम, इलाज और पौष्टिक भोजन की आवश्यकता थी।

कौशल्या ने जब सुना कि मुझे यक्ष्मा है, सारा प्रोग्राम बदलना पड़ेगा, लाहौर जाने के बदले कदाचित् पंचगनी जाना पड़े और न जाने दूसरी किस किस कठिनाई का सामना करना पड़े (स्वभावतः मेरी मृत्यु, अपनी बीमारी और बच्चे के पालने का प्रश्न उस के समक्ष आया होगा।) तो उस ने तत्काल सब से पहले अपनी बीमारी की ओर ध्यान दिया और

एक महीने के अन्दर (जिस बीच में पूर्ण आराम लेता रहा और वह बम्बई के एक प्रख्यात यक्ष्मा-स्पेशलिस्ट के परामर्शानुसार मेरे छोटे भाई नरेन्द्र की सहायता से मुझे पंचगनी पहुँचाने की व्यवस्था करती रही) उस ने अपने स्वास्थ्य को बीसियों दवाइयों और इंजेक्शनों की सहायता से इस हद तक सुधार लिया कि वह इस नयी कठिनाई का सफलता-पूर्वक मुक़ाबिला कर सके। बीमारी उस की अब भी दूर नहीं हुई, पर वह अपनी उसी इच्छा-शक्ति के बल पर उसे पूर्ववत दबाये हुए है।

इसी सम्बन्ध में मुझे एक घटना और स्मरण हो आती है :—

जब हमारी शादी हुई थी, मैं आल इंडिया रेडियो, दिल्ली में काम करता था और तीस हज़ारी में भैरों के मन्दिर के समीप रहता था। इस मन्दिर के बराबर ही छोटी सी पहाड़ी है। जिस पर अजीत गढ़ का मीनार, अशोक स्तम्भ और पीर गायब का मज़ार है। पहाड़ी जंगली पेड़ों से सुशोभित है और इस पर एक पक्की सड़क है जो सीधी तीमारपुर तक जाती है और 'रिज' (RIDGE) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सड़क पर प्रातः सायं सैर का बड़ा आनन्द मिलता है। मुझे बचपन ही से सुबह शाम सैर करने का शौक रहा है। दिल्ली में भी मैं प्रायः 'रिज' पर सैर को जाया करता। यद्यपि हमारे इस विवाह में रूमान नाम की चीज़ अधिक न थी। (परिस्थिति हास्यास्पद और दुखद थी।) लेकिन मेरा ख्याल था, कौशल्या कविता पसन्द करती है, प्रकृति के उस अनुपम सौन्दर्य को जो नित्य नया हो पूर्व-पश्चिम में खिल उठता है, अवश्य पसन्द करती होगी और रसिक साथी मिल जाने से सैर का आनन्द द्विगुन हो जायगा। इसीलिए विवाह के पहिले दिनों में नियमित रूप से मैं प्रातः उसे उठा कर 'रिज' पर सैर को ले जाता रहा। लेकिन जब मैं अपने

जाने में उसे स्वर्ण-विहान की सुन्दरता दिखाने का स्तुत्य प्रयास करता था, वह मन ही मन, (ऐसा बाद में उस की एक सहेली से मालूम हुआ) मुझे सनकी समझ अपने भाग्य को कोसती थी।

हुआ यों कि अपने विवाह के कुछ महीने बाद मैं लाहौर गया। तभी कौशल्या की एक सहेली ने उपालम्भ के स्वर में मुझ से कहा, "आप हमारी बहन को सोने क्यों नहीं देते?"

मैं चौंका और अपनी आकृति को प्रश्न-चिन्ह-सा बना कर उनकी ओर देखने लगा।

तब उन्हों ने बताया कि कौशल्या तो आठ बजे तक सोने की अभ्यस्त है और साढ़े पाँच, छः बजे उसे जगाना, उस के साथ बड़ा भारी अन्याय करना है।

"लेकिन 'रिज' की सुबहें तो बड़ी सुहानी होती हैं"—मैं कहना चाहता था। फिर यह सोच कर कि यह ब्योरा वृथा है, मैंने कान को हाथ लगाया कि अब जो ख़ता हो गयी सो हो गयी, फिर ऐसी ख़ता हो तो गर्दन मार दीजिएगा।

कौशल्या की प्रिय आदर्श दिन-चर्य्या यह है कि प्रातः सात साढ़े सात बजे वह उठे तो नौकर 'बेड-टी' (सुबह पलंग पर ही दी जाने वाली चाय) ले आये (अथवा चाय की ट्रे मेज़ पर रखते हुए उसे जगा दे) वह एक आध कप पी कर कसलमंदी उतार ले तो आठ साढ़े आठ बजे बिस्तर से उठ कर नित्य-कर्म से निवृत्त हो। दस साढ़े दस बजे नाश्ता करे और एक-डेढ़ बजे लंच खाय। लंच खाने के पश्चात् घंटा डेढ़ घंटा आराम करे। तीन साढ़े तीन बजे चाय पिये। छः साढ़े छः बजे फिर (यदि सम्भव हो तो) चाय अथवा काफ़ी का एक कप पिये। नौ साढ़े नौ बजे डिनर खाये और डिनर के बाद फिर काफ़ी का एक

कप पी कर गपबाज़ी अथवा ताश की एक आध बाज़ी के पश्चात् बिस्तर पर जा लेटे और किसी समाचार-पत्र अथवा पुस्तक का उस समय तक अवलोकन करे कि (बारह साढ़े बारह बजे) उसे नींद आ जाय। टेबल लैम्प यदि जलता रह जाय (उसका बुझाना यदि बिजली के बिल के कारण आवश्यक हो) तो नौकर अथवा पति उठ कर बुझा दे।

लेकिन कौशल्या के आदर्श जीवन में बिजली का बिल कभी इतना महत्व नहीं प्राप्त कर सकता कि उस का रात भर जलना अखर सके या इतनी बार चाय अथवा काफ़ी पीने की सुविधा न हो।

प्रकट है कि इस आदर्श दिन-चर्य्या वाले को प्रातः की नींद बड़ी प्रिय होगी और कौशल्या को यह दिन-चर्य्या तभी प्राप्त हो सकती थी यदि वह किसी बड़े धनाढ्य व्यापारी से विवाह करती, लेकिन अपनी भावुकता में विवाह उस ने मुझ जैसे फक्कड़ लेखक से कर लिया जिस के लिए लिखना महज़ शग्ल (hobby) न होकर व्यवसाय भी था, ध्येय भी, और सब से बड़ा आनन्द भी। जो ज़रूरी आवश्यकताएँ जुटाने के लिये छोटी-मोटी नौकरी करता था और शेष समय साहित्य-लेखन! और दोनों को मिला कर भी इतना न जुटा पाता था कि युद्ध-काल की उस महँगाई में जीवन की आवश्यताओं से अधिक कोई सुख अथवा विलास की सामग्री जुटा सके।

कौशल्या के लिए अपने जीवन स्तर को (जो मेरे स्तर से कहीं ऊँचा था) तत्काल नीचे लाना कठिन था। सो उसे अपनी इच्छा के अनुसार घर बनाने के लिए नौकरी करनी पड़ी। उस ने मिलिट्री में नौकरी की। दफ़्तर उस का सेक्रेटेरियट से भी परे, हमारे घर से पूरे साढ़े पाँच मील के अन्तर पर था। नौ बजे उसे दफ़्तर में हाज़िर होना पड़ता और बस जो उसे लेने आती, वह आठ बजे बूलवर्ड रोड पर आ जाती। सर्दियों के दिनों में कौशल्या मुँह-अँधेरे उठती। नित्य-कर्म से निवृत्त हो,

यदि नौकर न हो (और उन दिनों नौकरों की बड़ी दिक्क़त थी) तो स्वयं नाश्ता तैयार कर, लंच साथ बाँध, वर्दी पहन, ठीक पौने आठ बजे बस की प्रतीक्षा में बूलवर्ड रोड पर जा खड़ी होती। अपनी उसी प्रबल इच्छा-शक्ति से काम लेकर वह डेढ़ वर्ष तक अपनी प्यारी नींद को तज, प्रातः उठती रही और उस डिसिपलिन का पालन करती रही। उन्हीं दिनों वह देहरादून भी गयी और बारह लड़कियों में, जिनमें ग्यारह अँग्रेज़ थीं, अकेली डाइरेक्ट कमीशन (Direct Commission) लेकर आयी। किन्तु १९४५ में मुझे फ़िल्म में नौकरी मिल गयी, और मैंने उस से कहा कि वह जूनियर कमाँडर बन कर बाहर हुकूमत जमाने के बदले कुछ देर आराम करे और हमीं ग़रीबों पर हुकूमत जमा ले! दस बारह सौ मैं कमाने लगा था। उस के नौकरी करने की आवश्यकता न थी।

इसी इच्छा-शक्ति से काम लेकर कौशल्या ने थोड़े ही दिनों में उर्दू सीखी, उर्दू-हिन्दी में टाइप करना सीखा और कहानी लिखने का अभ्यास किया। उस की इच्छा-शक्ति बहुमुखी है और एक ही समय में, एक ऐसी शिद्दत से, वह उसे अपनी भिन्न सरगर्मियों में लगा रखती है।

कौशल्या ने वर्त्तमान जीवन से समझौता कर लिया है। लेकिन उस का रहन-सहन, आचार-व्यवहार तकल्लुफ़ात सभी अभिजात-वर्ग के हैं। यद्यपि उस के माता-पिता उसे बचपन ही में अनाथ बना गये लेकिन उस का वातावरण वही रहा। उस के नाना गुजरात के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। सराय जितना बड़ा उन का मकान था। बीस मेहमान भी आ जायँ तो घर से बिस्तर निकल सकते थे। नाना के बाद कौशल्या मामा के पास रही। मामा भी अमेरिका के पढ़े थे और साहबी ठाठ से रहते थे। मौसा भी विलायत हो आये थे। बुआ और बुआ के लड़के लखपति

थे। कौशल्या की अपने जीवन-सम्बन्धी कल्पना इसी वातावरण के अनुकूल थी। बी० टी० की डिग्री लेने के पश्चात जब वह रेनाला में हैडमिस्ट्रैस हुई तो उस के पास घर के नाम पर किराये के दो अढ़ाई कमरे थे और सामान कुछ भी न था। लेकिन वह कुछ भी हतोत्साह न हुई। बड़ी निष्ठा से वह अपना घर बनाने में जुट गयी। वह अवश्य ही अपनी कल्पना के अनुसार अपना घर बना लेती, लेकिन डेढ़ वर्ष की नोकरी के बाद ही उस ने मुझ से शादी कर ली।

जब वह दिल्ली सामान लेकर आयी तो दूसरी चीज़ों के अतिरिक्त दुसूती, लट्ठे और सिल्क के छोटे बड़े सुन्दर कढ़े हुए मेज़पोशों और मेंटल-पीस-कवरों से भी एक ट्रंक भरा हुआ था। देखकर मैं प्रसन्न भी से हुआ और उदास भी, और मुझे उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार मित्र राजेन्द्र सिंह बेदी सुना हुआ एक लतीफ़ा याद हो आया—

जुलाहों के एक गाँव में एक बार एक जुलाही ने कपड़े धो कर रस्सी पर सूखने डाल रक्खे थे। तभी बड़े ज़ोरों से आँधी आ गयी और एक शलवार में हवा ऐसे भर गयी कि वह पूरी की पूरी फूल गयी। देख कर जुलाही डर गयी कि जाने यह क्या बला है। उस ने अपने पति से कहा। पति ने पड़ोसी से। पड़ोसी ने दूसरे पड़ोसी से। बात की बात में सारा गाँव डरा, सहमा वहाँ एकत्र हो गया। कोई इसे भूत की कारिस्तानी बताता कोई प्रेत की। आख़िर किसी ने सुझाया कि शेख़चिल्ली साहब से क्यों न पूछा जाय। आँधी का ज़ोर बराबर बढ़ रहा था। शलवार उसी तरह फूली हुई थी। शेख़चिल्ली साहब के पास आदमी भेजा गया। वे महाशय अकड़ गये। कभी व्यस्तता का बहाना बनाते कभी तबीयत की ख़राबी का। आख़िर बोले कि सवारी को घोड़ी लाओ तो चलेंगे। विवश हो जुलाहे कहीं से घोड़ी लाये। तूफ़ान था कि बढ़ता ही जाता था और शलवार फूल फूल कर फटने को हो रही

थीं। जाकर कुछ क्षण शेख़चिल्ली उस फूली शलवार को मुटुर मुटुर तकते रहे, तब पहले उन के ओठों पर प्रसन्नता की रेखाएँ फैल गयीं, फिर सहसा वे उदास हो गये।

हाथ जोड़ कर जुलाहों ने पूछा, "महाराज आप प्रसन्न क्यों हुए और प्रसन्न हुए थे तो उदास होने का क्या कारण है?"

"मैं प्रसन्न तो यह सोच कर हुआ," शेख़चिल्ली गर्व-स्फीत स्वर में बोले—"कि यदि मैं न होता तो आप ऐसे बिकट-प्रश्न पूछने किस के पास जाते?"

"और उदास?"

"उदास इसलिए कि मैं स्वयं नहीं जानता यह क्या बला है।"

उन ढेर के ढेर मेज़पोशों को देखकर मेरी प्रसन्नता और उदासी भी उन्हीं शेख़चिल्ली जैसी थी। मैं खुश हुआ, यह सोच कर, कि इतने ढेर के ढेर सुन्दर मेज़पोश अब मेरे हैं (किसी ज़माने में जब जीवन का ध्येय न बना था, इन चीज़ों का मुझे बड़ा शौक़ था) और उदास हुआ यह सोच कर, कि ये सब मेरे किस काम आयँगे? क्योंकि मेज़ तो दूर रही, एक तिपाई भी मेरे पास न थी, जिसकी शोभा वे बढ़ा सकें।

लेकिन कौशल्या ने साहस न छोड़ा। एक दूसरे के नीचे चली जाने वाली नन्हीं नन्हीं सी चार मेज़ों का सेट वह साथ लायी थी। मेज़पोशों को वह उन्हीं पर बिछाती रही,—कई इतने बड़े थे कि दुहरे करके बिछाने में भी बड़े लगते थे, और कई अभी तक पूर्ववत ट्रंक में बन्द हैं। यही हाल मेंटल-पीट-कवरों (अंगीठी पोशों) का हुआ। पिछले सात वर्ष से वे ट्रंक में बन्द पड़े इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि को इतना बड़ा घर मिले जिस में अंगीठी वाला ड्राइंग-रूम भी हो तो उन का कुछ उपयोग हो सके।

सफ़ाई के प्रति कौशल्या की निष्ठा भी सुसंस्कृत अभिजात-वर्ग की है। सफ़ाई के प्रति उस का प्रेम (मुझ जैसे लोगों की दृष्टि में) सनक की हद तक पहुँचा हुआ है। उसके ख्याल के अनुसार घर में जितने व्यक्ति हैं, उन के न केवल नहाने के तौलिये अलग होना चाहिएँ, वरन् एक आदमी के नहाने, हाथ-मुँह पोंछने और (यदि आदमी पुरुष है तो) हजामत आदि के तौलिये तक अलग अलग होने चाहिएँ। पूरी सफ़ाई रखने के लिए हर व्यक्ति के हर काम के लिए कम से कम तौलियों का एक जोड़ा अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार यदि घर में चार छः व्यक्ति हैं तो एक ट्रंक तौलियों से भरा भी होना ज़रूरी है। चादरों और पलंग पोशों और दूसरे ऐसे सामान की बात दूर रही। यह बात कौशल्या की समझ में नहीं आती कि देश की वर्तमान स्थिति में करोड़ों आदमियों के लिये ऐसी सफ़ाई रखना, न केवल आर्थिक तौर पर असम्भव है, बल्कि उन के पास इतना समय भी नहीं।

एक ज़रूरत दूसरी ज़रूरत को जन्म देती है, दूसरी तीसरी को और कुछ काल बाद आदमी अपने आप को इन्हीं ज़रूरतों का गुलाम बना लेता है। यदि उस ने कोई ऐसा ध्येय बना रक्खा है जो उसे इतना धन और समय नहीं देता तो उसे अपनी इन ज़रूरतों के लिए समझौता करना पड़ता है। और कुछ समय पश्चात् वह पाता है कि वह ध्येय से दूर हट गया है और वह महज़ चन्द आवश्यक ज़रूरतें पूरी करने के लिये कोल्हू का बैल बना हुआ है।

मैं एक ऐसे वर्ग में पैदा हुआ और ऐसे वातावरण में पला हूँ, जहाँ भाई भाई और मित्र मित्र नहा कर एक ही तौलिये से शरीर पोंछना न केवल बुरा ख्याल न करते थे, बल्कि उन्हें यह मालूम ही न था कि ऐसा करना बुरा है। हम छः भाई थे और प्रत्येक के लिये छः अलग अलग रुएँदार अथवा साधारण तौलियों की तो बात दूर रही, छहों के लिये छः

खादी के टुकड़े भी प्राप्त न थे। और यद्यपि ब्राह्मण होने के नाते हम पवित्रता और स्वच्छता के बड़े क़ायल थे, पर मुझे यह मानने में भी तनिक झिझक नहीं कि हमारा सफ़ाई का स्तर कौशल्या के सफ़ाई के स्तर से कहीं नीचा था। कौशल्या ने आकर जब अपनी कल्पना के अनुसार घर को साफ़-सुथरा बनाया, आठों पहर बूट या सलीपर या खड़ाऊँ पहनने की क़ैद लगायी और दूध से धुले बिस्तर और जाजम बिछा दिये तो मैं बड़ा सिटपिटाया। जी होता कि इतने साफ़ सुथरे घर में जाकर उसे गन्दा न करें। बस बरामदे में बैठ कर उस उजलेपन का दर्शन करते रहें।

हम मित्रों का (जिनमें प्रसिद्ध कहानी लेखक कृष्ण चन्द्र भी हैं) क़ायदा था कि सर्दियों के दिनों में बिस्तर पर बैठकर एक ही लिहाफ़ घुटनों पर ले लेते और मज़े से घंटों बैठे गप्पें हाँका करते। विवाह के आरम्भिक दिनों में, जब एक दिन मित्र सुबह आ गये और मैंने पूर्ववत उन्हें बिस्तर में बुला लिया और हम दोपहर तक गप्पें हाँकते रहे तो कौशल्या उन की उपस्थिति में तो चुप रही, परन्तु जब वे चले गये तो उस ने अभी एक दिन पहले बदली हुई दूध सी श्वेत चादर उठा कर फ़र्श पर फेंक दी और लिहाफ़ का गिलाफ़ उतार डाला।

मैं हैरान कि हे भगवान! क्या ख़ता हो गयी जो धुली चादरें फिर धोने को डाल दीं। आख़िर जब झिझकते हुए पूछा तो मालूम हुआ कि पलंग सोने के लिए होते हैं और कुर्सियाँ बैठने के लिए और यह कहते हुए कौशल्या ने दो कुर्सियाँ लाकर सोने के कमरे में रख दीं, कि यदि आप बिस्तर से उठ कर बाहर न जाना चाहें तो मित्रों को कुर्सियों पर बैठायें।

मित्र बिस्तर पर बैठने के आदी थे। बिना पूछे भी आ बैठते थे। लाचार सोने के कमरे को ड्राइङ्ग-रूम बनाने के बदले किसी मित्र के

आवाज़ देते ही भाग कर बाहर जाने का अभ्यास डालना पड़ा और धीरे धीरे मित्र भी समझ गये कि कौशल्या के राज्य में उन्हें भी मेरे साथ सभ्यता के दो एक पाठ सीखने की आवश्यकता है।

पिछले सात वर्ष में मैंने कौशल्या का और कौशल्या ने मेरा दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न किया है। परिणाम यह है कि हमारा घर आधा तीतर आधा बटेर का सा हो गया है। खाने के लिये डाइनिंग टेबल नहीं (ख़रीदने की बात हो रही है) जिस पर प्लेटें आदि चुनी जा सकें पर वह थाली कटोरी भी नहीं। डाइनिंग टेबल की जगह फ़र्श पर दस्तरख्वान बिछ जाता है, थाली कटोरी का स्थान प्लेट और कटोरी ने ले लिया है। मित्र सोने के पलंग पर नहीं बैठते पर फ़र्श पर एक गदेला बिछा रहता है, जिस पर हम बैठ सकते हैं, लेट सकते हैं (चाहें तो कलाबाज़ी भी लगा सकते हैं) और घुटनों पर कम्बल लेकर घंटों गप्पें भी लड़ा सकते हैं। यही हाल दूसरी विषमताओं का भी है।

कौशल्या सफ़ाई और शिष्टाचार के अपने उसूलों की बड़ी पाबन्द है, पर जिस से वह स्नेह अथवा जिस का वह आदर करती है, उस के मामले में सब उसूल तज देती है। इस बात को स्वीकार न करना, उस के साथ अन्याय होगा। वह छल-कपट अथवा बनावट से ऐसा करती हो, यह बात नहीं। जिस सरलता से वह साधारण परिचितों में ये बातें सहन नहीं कर सकती, उसी सरलता से घनिष्ट-मित्रों की सब त्रुटियाँ माफ़ कर देती है।

कौशल्या की इस सरलता में भी दिलचस्पी का पहलू है। अपनी भावनाओं को छिपाने का गुर उसे नहीं आता। एक आदमी ने कोई

अच्छी बात कही, वह उस की प्रशंसा के पुल बाँध देगी। दूसरे दिन उस से किसी प्रकार की अशिष्टता हो गयी अथवा उस की कोई बात कौशल्या को पसन्द न आयी, बस उस के विरुद्ध हो जायगी। जब भी हम कोई नया नौकर रखते हैं, मुझे सदैव इस स्थिति से दो चार होना पड़ता है। साधारणतः नये नौकर के आने के तीसरे चौथे दिन वह मुझ से कहती है "देखिए यह नौकर बड़ा अच्छा है।" आज मैं थकी हुई थी, कपड़े फटकने लगी तो अपने आप बोला "लाइए बीबी जी, मैं फटक देता हूँ" या "देखिये कितना शिष्ट है। किस अदब से बात करता है" या "सुबह ठीक समय पर उठ कर चाय बना देता है। बक-बक झक-झक नहीं करनी पड़ती" आदि आदि—। मैं उत्तर में कभी कुछ नहीं कहता। क्योंकि अनुभव ने मुझे बता दिया है कि वह दूसरे ही दिन उस की बुराई करने लगेगी। यह प्रशंसा और निन्दा का सिलसिला सदा चलता रहता है। नौकर चार दिन अच्छा और चार दिन बुरा बनता रहता है। (यही हाल पति का भी है, यद्यपि उस की निन्दा इतनी मुखर नहीं होती) कभी कभी मैं कौशल्या की इस सरलता से चिढ़ जाता हूँ। पर कुल मिला कर मुझे यह प्रिय है। उन लोगों से जो दिल में विद्वेष से भरे रहने पर भी ऊपर से मुस्कराते रहते हैं, मन में अतीव उपेक्षा रखने पर भी ऊपर से प्रशंसा करते रहते हैं, मेरी रूह काँप जाती है। यदि साथी भी ऐसा ही हो तो फिर........ बहर हाल उस जीवन की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकता।

५. खुसरो बाग रोड
इलाहाबाद

उपेन्द्र नाथ अश्क

दो धारा

उपेन्द्र नाथ अश्क

बच्चे

['बच्चे' को पढ़ कर एक साहब ने पूछा—"जी आपने इस का शीर्षक 'बच्चे' क्यों रखा, 'बच्चा' क्यों नहीं रखा ? लाहौर की प्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्रिका 'अदबे-लतीफ़' के वार्षिक नम्बर से इसे लेकर 'रूहे-अदब' में छापने वाले सम्पादकों ने इसका शीर्षक बदल कर 'बचपन' कर दिया। हिन्दी में विद्वान् सम्पादक ने, 'बच्चे' न 'बचपन' इसे 'वात्सल्य' बना दिया। अब इस कहानी को पुस्तक में प्रकाशनार्थ देते समय, मैं ने इसे फिर ध्यान से पढ़ा है। मुझे इस का शीर्षक बदलने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। बल्कि मुझे इस के अतिरिक्त इस का दूसरा कोई शीर्षक उपयुक्त नहीं लगा। स्नेही सम्पादकों से क्षमा माँगते हुए, मैं अपने पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे कहानी को तनिक ध्यान से पढ़ें। *कोई अच्छी चीज जहाँ लेखक से परिश्रम की अपेक्षा रखती है, वहाँ पाठक से कुछ ध्यान की माँग भी करती है*— अश्क]

वर्षा उस समय ज़ोर से होने लगी थी, और नन्हा तुलसी राव अपनी माँ की साड़ी का पल्लू पकड़े उस के साथ जाने का हठ कर रहा था, जबकि राशन अफ़सर श्री बालकृष्ण विठल राव कोलार्कर अपने बँगले में दाख़िल हुए।

"नको, नको, तिकड़े बसा, तिकड़े !"† श्रीमती कोलार्कर ने अपना पल्लू छुड़ाते हुए कहा।

परन्तु बच्चा निरन्तर "हम ममी साथ जाएँगा", "हम किचन में जाएँगा !" चिल्लाता रहा।

श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे का ध्यान बटाने के विचार से कहा, "देखो, तुम्हारे पापा जी आये हैं, गुड ईवनिंग बुलाओ।"

बच्चे ने ममी का पल्लू पकड़े-पकड़े वहीं से गुड ईवनिंग बुलायो।

किन्तु पापा जी ने इस अभिवादन का कोई उत्तर न दिया।

---

† नहीं नहीं वहां बैठो, वहां !

"पापा जी नहीं बोलता, पापा जी एकदम डर्टी है," बच्चे ने आया से सीखी हुई हिन्दुस्तानी में कहा।

"चच......चच......ऐसा भी बोलता है, इतना गुड ब्वाय होकर क्षमा माँगो पापा जी से!"

बच्चे ने वहीं खड़े-खड़े हाथ जोड़ कर क्षमा माँगी। पर उस के पापा जी ने उस की क्षमा-याचना का कोई उत्तर नहीं दिया, हाथ का सामान मेज़ पर रखा, बरसाती उतारी और मौन रूप से उसे खूँटी पर टाँगने लगे।

माँ ने समझा, बच्चे का ध्यान बट गया है। बोली, "वेरी गुड ब्वाय! लो बेटो, मैं अभी आती हूँ चाय लेकर!"

लेकिन बच्चे ने फिर ममी का पल्लू पकड़ लिया।

अपने पति की ओर देख कर श्रीमती कोलार्कर ने कहा, "तनिक इसे इधर रखो तो मैं चाय ले आऊँ। बाहर पानी गिरने लगा है।"

श्री० कोलार्कर ने उत्तर में बरसाती टाँग कर खूँटी से छाता उतारा, उसे चुपचाप पत्नी के हाथ में दिया और जाकर निर्जीव-से बिस्तर पर लेट गये।

श्रीमती कोलार्कर का समस्त क्रोध अपने बच्चे पर निकला, "एकदम गन्दा बाबा है, कहना नहीं मानता, हम दूसरा बेबी लायँगा!" और छाता खोल, बच्चे को कूल्हे से लगाये, वे बकती-झकती रसोई घर की ओर चली गयीं।

जब से श्री० कोलार्कर पंचगनी आये थे, लगभग रोज़ ऐसा होता था। रसोई घर बँगले से तनिक दूरी पर था, और नन्हा तुलसी राव कभी अपनी ममी की साड़ी का पल्लू और कभी आया की स्कर्ट का दामन

पकड़े रसोई घर से बँगले और बँगले से रसोई घर के बीस चक्कर लगाता, कई बार 'गुड' और कई बार 'डर्टी' बनता।

बम्बई में श्री कोलाकर का फ्लैट वालकेश्वर रोड पर सीतल बाग के बराबर था। बिलडिंग के दूसरे म्हाले* पर वे रहते थे और नन्हा तुलसी राव अपनी ममी अथवा आया को तंग करने के बदले कभी ऊपर की मंज़िल और कभी नीचे की मंज़िल में, इस या उस 'आँटी' ही को परेशान किया करता और उस की माँ तथा आया उसे 'गुड ब्वाय' 'वेरी-वेरी गुड ब्वाय' समझा करतीं। वह न केवल अपनी माँ का प्यारा था, बल्कि आया भी उसे खूब चाहती थी। उस की सिखायी हुई मराठी मिली हिन्दोस्तानी में वह ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करता कि दोनों उसे चूम-चूम लेतीं। उस के पापा जब प्रातः उठते (रात को श्री कोलाकर देर से घर आते, इसलिए पिता-पुत्र में कम ही भेंट होती) तो वह उन्हें अपने कमरे ही से 'गुड मॉर्निंग' बुलाता। फिर अपनी ममी की गोद में चढ़े-चढ़े जाकर उन्हें किस्सी (Kissy) देता और गुड ब्वाय की उपाधि लेकर ममी के गले में बाहें डाले वापस आ जाता। अपने फ्लैट में तो वह हाथ मुँह धोने, कपड़े बदलने, नाश्ता करने, खाना खाने या सोने के समय ही रहता, उस का शेष समय तो पड़ोसिन आँटियों और उन के बच्चों में खेलने या आया के साथ चौपाटी की सैर करने में व्यतीत होता।

किन्तु पंचगनी में न पड़ोसिन आँटियाँ थीं, न उन के बच्चे थे, न चौपाटी की सैर थी और न आया ही उस का मन बहलाती थी। श्री कोलाकर ने पंचगनी में जो बँगला किराये पर लिया था, या जितने रुपये वे वार्षिक किराये में खर्च करना चाहते थे, उन पर, सीज़न का ज़ोर होने के कारण जो बँगला उन्हें मिला था, वह निपट एकांत स्थान में बना

---

*म्हाले=मंज़िल

हुआ था। दूर-दूर तक बच्चा तो क्या बूढ़ा भी दिखायी न देता था। इस के अतिरिक्त आया अब उस का काम देखने के बदले रसोई का काम देखने लगी थी और बच्चा नितांत अकेला पड़ गया था।

सहसा जब डाक्टरों ने श्री० कोलार्कर के दायें फेफड़े में कुछ इनफ़िलट्रेशन अर्थात् यक्ष्मा के कीटाणुओं के हल्के-से आक्रमण की आशंका प्रकट की और श्री कोलार्कर ने अपने और अपने ससुर के समस्त बल-प्रभाव का प्रयोग करके, पंचगनी में, जो बम्बई प्रेज़िडेन्सी में सब से शुष्क स्वास्थ्य-कर स्थान समझा जाता है, अपनी तब्दीली करा ली, तो उन के रसोइये ने साथ चलने से इन्कार कर दिया। तब अचानक उन को आया ने प्रस्ताव किया कि यदि उस की 'पगार'* बढ़ा दी जाय और मेम साब उस की कुछ सहायता करें, तो वह किचन का काम सम्हाल लेगी। श्री० कोलार्कर ने तुरन्त उस का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। नन्हा अब अढ़ाई वर्ष का होने को आया था, उस का काम घट गया था और पति-पत्नी आया को छुट्टी देने की सोच रहे थे, किन्तु जब आया किचन का काम सम्हालने को तैयार हुई और श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे को नहलाना-धुलाना अपने ज़िम्मे ले लिया, तो श्री कोलार्कर ने उस का वेतन पाँच रुपये बढ़ा दिया और उसे अपने साथ पंचगनी ले आये।

इस प्रबन्ध से सभी प्रसन्न थे। किचन की दासता से बच्चे की दासता श्रीमती कोलार्कर को अपेक्षाकृत पसन्द थी। श्री० कोलार्कर को अच्छे-से-अच्छा खाना मिल जाता था—आशा के विपरीत आया रसोइये से भी अच्छे खाने पका लेती थी, कई प्रकार का मांस, मछली, कढ़ी और केक और फिर भाँति-भाँति के हलवे बनाने में उसे अपूर्व

*पगार=वेतन

दक्षता प्राप्त थी। पतले-पतले पराठे बनाने में (जो मेम और साहब दोनों को बहुत भाते थे) उसे अवश्य कठिनाई होती, किन्तु उस काम में मेम साहब उस का हाथ बँटा देतीं—रही आया तो इस महँगाई के ज़माने में उसे मन-चाहा खाना मिल जाता, बच्चे के कपड़ों की धुलाई के बदले स्वादिष्ट सालन की सुगन्धि मिलती और आया से बढ़ कर 'मिस्तरी' (रसोइया) होने पर वह फूली न समाती।

किन्तु नन्हा तुलसी राव इस प्रबन्ध से सख्त परेशान था। जब वह खेलना चाहता, तो ममी और आया दोनों ही उसे किसी न किसी काम में व्यस्त मिलतीं। आया चाहती कि अब, जब वह आया से मिस्तरी हो गयी है, उसे बच्चे की 'री...री...' से मुक्त किया जाय। जब बच्चा अपने स्वभावानुसार उस की स्कर्ट का छोर पकड़ता, तो वह मिनमिनाती। श्रीमती कोलार्कर चाहतीं कि वे नहला धुला कर उसे कपड़े पहना दें, तो वह अकेला चटाई पर बैठा खिलौनों से खेलता रहे और वे कोई दूसरा काम करें। लेकिन बच्चा खिलौने छोड़ कर उन की साड़ी का अँचल पकड़े उनके पीछे-पीछे घूमता, परेशान करता, पिटता, किन्तु पिटने और रोने पर, जैसा कि उसे सिखाया गया था "अबी ऐसा नहीं करेगा" कहता हुआ क्षमा माँग लेता और संधि कर लेता।

वह अत्यन्त सुन्दर, गुलगोथना, गुबला-गुबला बच्चा था। जब वह अपराध करने और पिटने पर क्षमा माँगता और गले में बाहें डाल कर संधि कर लेता, तो श्रीमती कोलार्कर सब कुछ भूल कर, उसे छाती से लगा लेतीं और "गुड ब्वाय" की उपाधि प्रदान करती हुई चूम-चूम कर उस के गाल लाल कर देतीं।

किन्तु इस के बावजूद वे उसे दिन में कई बार पीटतीं और कई बार क्षमा करतीं। कई बार 'गुड ब्वाय' और कई बार "डर्टी ब्वाय" की उपाधि से विभूषित करतीं।

बाहर वर्षा पूर्ववत् हो रही थी, किन्तु हवा तेज़ चलने लगी थी। सिलवर-ओक के गगन-चुम्बी, किन्तु देवदार की अपेक्षा पतले तनों वाले, वृक्षों के पत्ते उस के वेग से दोहरे हुए जा रहे थे और उन के पृष्ठ-भाग का हलका हरा रंग शेष वृक्षों के मूंगी के से गहरे सब्ज रंग की पृष्ठ-भूमि में विचित्र-सा लग रहा था। बादलों के झुंड के झुंड, अनवरत विजय, आक्रमण और मदिरा के तिहरे मद में मस्त सैनिकों की भाँति, उड़े जा रहे थे। वर्षा के थपेड़े खिड़कियों के शीशों को तोड़े डालते थे और टीन की छत पर फैले हुए बाँस के वृक्षों की शाखाएँ अपने बड़े-बड़े काँटे निरन्तर छत में गाड़ती हुई चिंघाड़ रही थीं। श्री० कोलाकर खिड़की के पास चारपाई पर निष्प्राण-से पड़े थे। यद्यपि छः महीने में ही उन का वज़न बाईस पाऊंड अर्थात् पूरे ग्यारह सेर बढ़ गया था और उन के कल्ले, जो बम्बई के अत्यन्त व्यस्त और मर्यादा-रहित जीवन के कारण भीतर धँस गये थे और दिन प्रति दिन काले पड़ते जा रहे थे, अब भर आये थे और उस भयानक रोग की छाया भी, जो बम्बई में अचानक उन्हें लीलता हुआ दिखायी देता था, अब दूर होती जा रही थी, किन्तु इस पर भी उन्हें अनुभव होता था, जैसे उन की कोई बहुत प्यारी चीज़ बम्बई ही में रह गयी है।

दफ्तर का अधिक काम उन्हों ने अपने एक सहकारी पर छोड़ रखा था। राजयक्ष्मा पर लिखी हुई एक पुस्तक में उन्हों ने पढ़ा था कि रोग से मुक्त हो जाने पर भी रोगी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि सम्भव हो, तो वह चलने की अपेक्षा खड़े रह कर और खड़े रहने की अपेक्षा बैठ कर काम करे और वे दफ्तर में ज्यादातर आराम कुर्सी पर लेटे काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करते थे। लंच के समय भी वहीं खाना खाकर ऊँघ लेते। साहित्य और राजनीति में उन्हें कभी दिलचस्पी न थी और अब तो देश का वातावरण दूषित होने के कारण ख़बरें बड़ी परेशान

करने वाली होतीं और डाक्टरों के परामर्शानुसार हर तरह की परेशानी को अपने से दूर रखने के हेतु वे समाचार-पत्र को उठा कर भी न देखते थे।

दफ्तर का समय किसी न किसी तरह काट कर जब वे घर आते, तो उन्हें ऐसा लगता जैसे समय एक बड़ा भारी पत्थर बन कर उन की छाती पर आ बैठा है। श्रान्त-क्लान्त, ऊबे और चिढ़े से वे खिड़की के पास बिछे हुए पलंग पर निर्जीव-से लेट जाते। उन को पत्नी घर अथवा किचन के काम में व्यस्त होतीं। उन का बच्चा "हैलो पापा", "गुडईवनिंग पापा" से उन का स्वागत करता। श्री० कोलाकर थके हुए स्वर में कभी उस के "हैलो" और "गुडईवनिंग" का उत्तर देते और कभी मौन रहते, पर कभी उसे इतना प्रोत्साहन न देते कि वह उन की गोद में आ चढ़े या अपनी तोतली बातों से उन का मन बहलाये।

श्री० कोलाकर को कभी बच्चों से प्रेम न था, और जिन वस्तुओं से उन्हें प्रेम था, उन का सामीप्य अब न केवल उन्हें प्राप्त न था, वरन् उन की सख्त मनाही भी थी। वहीं पलंग पर निष्प्राण से लेटे उन्हें प्रायः रेडियो-क्लब की वे दिलचस्प लुभावनी संध्याएँ स्मरण हो आतीं, जब हरी हरी घास पर लगी किसी कुर्सी पर बैठे और समुद्र-तट का दर्शन करते हुए ऐसा लगता, मानो जहाज़ के डेक पर बैठे हों। क्लब के लॉन की ऊँचाई से, बायीं ओर समुद्र की आकुल लहरें; उन में लंगर डाले सन्यासियों से अटल जहाज़; दायीं ओर इंडिया गेट और ताज की बिल्डिंग; वहाँ तक जाती हुई बाँध के साथ बनी हुई सड़क—सब कुछ बड़ा भला लगता। आकुल ऊर्मियाँ बाँध के पत्थरों के साथ टकरातीं और झाग बिखेरती हुई लौट जातीं और कभी कभी उन से कहीं अधिक व्यग्र कोई स्टीमर उन सन्यासियों की भाँति समाधिस्थ जहाज़ों में किसी एक तक जाता और

अपने पीछे सफ़ेद झाग की एक लहर सी छोड़ जाता। श्री० कोलाकर समुद्र की लहरों, जहाज़ों और दूर पृष्ठ-भूमि में एलीफेन्टा की पहाड़ी को संध्या के धुँधलकों में उन सन्यासियों ही की भाँति अटल, अविचल खड़े देखते और तुष्टि की एक अपूर्व अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाते। स्कॉच की तरल आग रस ले लेकर गले से उतारते और सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश लगाते। धीरे-धीरे उन के दूसरे मित्र भी आ जाते और फिर विस्की के दौर की जगह ब्रिज का दौर चलता और गयी रात तक ब्रिज और विस्की की यह कॉकटेल चला करती। जब वे घर आते, तो उन का बच्चा सो चुका होता, पत्नी कोई मराठी उपन्यास हाथों में लिये ऊँघती हुई उन की प्रतीक्षा कर रही होती और उनको सुलाते ही सो जाती।

ज्योंही डाक्टर ने इस रोग का निदान किया था, क्लब, सिगरेट शराब और ब्रिज, सब की उन्हें सख्त मनाही हो गयी थी। यद्यपि ये चीज़ें श्री० कोलाकर के लिए अत्यन्त प्रिय थीं, किन्तु जीवन कदाचित, इन से भी प्रिय था, इसीलिए इन सब को 'नमस्कार' कह उन्हों ने पंचगनी में अपनी तब्दीली करा ली थी। कुछ महीने छुट्टी ले घर में पूरा आराम किया था और अब डेढ़-दो महीने से जो दफ्तर जाने लगे थे तो भी काफ़ी आराम करते थे।

शराब और सिगरेट तो सदा के लिए छूट गये थे, किन्तु यदि वे चाहते, तो अब ब्रिज की एक-आध बाज़ी खेल सकते थे। उन का स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा सुधर गया था, वज़न बढ़ गया था और सेडीमेंट नार्मल हो गया था अर्थात् उन के रक्त में रोग का प्रभाव ख़त्म हो गया था, लेकिन पंचगनी इतनी छोटी जगह थी और उन का पद ऐसा था कि वे मित्र बनाते हुए डरते थे। यदि कोई पुराना मित्र भी सामने पड़ जाता, तो वे सदा कन्नी कतरा जाते। बम्बई में वे बालकेश्वर

रोड पर रहते थे, सान्ताक्रूज में राशनिंग अफ़सर थे और कोलावा में उन का क्लब था। उन के मित्रों में एक भी ऐसा न था, जो उन की मैत्री का अनुचित लाभ उठा सकता। पंचगनी में उन्हें भय था कि उन्हों ने कोई मित्र बनाया कि उस ने चार व्यक्तियों के राशन कार्ड नियम के विरुद्ध रखे या कोई दूसरी माँग की और वे सब से अलग-थलग बने रहते थे।

बाज़ार छोटा-सा था और जो थोड़ी बहुत रौनक उस में थी, वह भी वर्षा के कारण समाप्त हो गयी थी। और यों भी वर्षा में किसी प्रकार की सैर असम्भव थी। वर्षा तो बम्बई में भी होती, पर इस के बावजूद चिर-चंचल बम्बई का जीवन सदा क्रियाशील रहता। पंचगनी में तो लगता, जैसे जीवन एक दम थम गया है; जैसे दिनों, सप्ताहों, महीनों अनवरत गिरने वाली इस वर्षा ने उसे सर्वथा गति-हीन बना दिया है। श्री० कोलार्कर चेष्टा-हीन से पलंग पर लेटे रहते। पल घड़ियाँ बन कर बहे जाते और वे चुपचाप लेटे बाहर वाटिका में एक ही पंक्ति में लगे हुए सिलवर-ओक के तनों को तकते रहते, जिन के घने पत्ते कहीं छत से भी बहुत ऊपर थे। उन रुंड-मुंड तनों को तकते हुए रेडियो-क्लब की दिलचस्प, आमोद-भरी संध्याएँ उन्हें स्मरण हो आतीं और इन उदास शामों की घुटन और भी घनी होकर गला घोंटती हुई-सी प्रतीत होती।

आया एक हाथ पर चाय की ट्रे और दूसरे में छाता थामे हुए जल्दी-जल्दी आयी। बच्चा साथ आने का हठ करता था, इसलिए श्रीमती कोलार्कर ने चाय आया ही के हाथ भेज दी। आया बूढ़ी थी और कुरूप, किन्तु अविवाहित होने के कारण अभी तक शृंगार में उस का बड़ा अनुराग था। जूड़े में वह अब भी प्रति दिन फूल लगाती

थी, स्कर्ट पहनती थी और विचित्र बंदरिया-सी लगती थी। श्री० कोलाकर को उस का चाय लाना एक आँख न भाता था। वे चाहते थे कि उन की पत्नी कम-से-कम चाय के समय तो उन के पास बैठे। और कुछ नहीं तो वे उस के साथ ही कुछ क्षण बातें करें। प्रारम्भ में श्रीमती कोलाकर ने प्रयास भी किया था, किन्तु वे जब भी आयीं, नन्हा तुलसी राव सदा उन के साथ आया। वह इतना चंचल और उदंड बालक था कि क्षण भर के लिए निश्चल न बैठता। वह उन्हें बात तक न करने देता। चाहता कि उस के पापा और मम्मी परस्पर बातें करने के बदले उस से बातें करें और उसकी बातें सुनें। श्री० कोलाकर के लिए चाय पीना दूभर हो जाता। कुछ क्षण संयत रहने की चेष्टा करने के बाद सहसा वे चिल्ला उठते, "इस पाजी को मेरे सामने से ले जाओ!" और अब उन की पत्नी अपनी इच्छा के बावजूद स्वयं न आ पाती। श्री० कोलाकर मन-ही-मन खीजते, किन्तु बच्चे की निरर्थक बातें सुनने की अपेक्षा अकेले ही चाय पीना श्रेयस्कर समझते।

यह विचित्र बात थी कि श्री० कोलाकर को अपनी पत्नी का यह महत्व बम्बई में कभी अनुभव नहीं हुआ। वे दफ्तर से लोकल ट्रेन में सीधे 'चर्च गेट' और वहाँ से क्लब पहुँचते और जब लौटते तो खाना खाकर (और जब कभी वे खाना क्लब ही में खा लेते तो बिना खाये) सोने के अतिरिक्त उन के लिए और कुछ न रह जाता। कभी छुट्टी के दिन फ़ोर्ट या क्राफ़र्ड मारकेट में शॉपिंग करते समय या कभी किसी संध्या अपने किसी मित्र की पार्टी में वे अवश्य उसे साथ ले जाते, किन्तु उस समय भी उन की पत्नी का अपना महत्व कुछ न होता—उसकी बहुमूल्य साड़ी, नये-से-नये फैशन के सेंडल, नरोत्तम दास भाऊ की दुकान से ख़रीदी हुई उसकी दीप्तिमयी अँगूठियाँ तथा कर्ण-फूल, उस के मुख का सौम्य-सौन्दर्य और उसकी ऊँची प्रज्ञा का पता देने वाली उस की वह सूक्ष्म

मुस्कान—सब श्री० बालकृष्ण विठल राव कोलार्कर के महत्व को बढ़ाते । जहाँ तक साहचर्य का सम्बन्ध है, उन्हें तो यह भी ज्ञात न था कि उन की यह संगिनी अपना समय कैसे बिताती है ।

आया ने चाय का प्याला बना कर साहब के समीप एक तिपाई पर रख दिया और एक प्लेट में उबला हुआ अंडा और नमक ले आयी ।

श्री० कोलार्कर पूर्ववत लेटे सिलवर-ओक के तनों को देखते रहे । उन्हों ने एक बार भी आया की ओर नहीं देखा । वे आज बाज़ार से आते-आते ताश का एक पैकेट और ड्राफ्ट का एक बोर्ड ले आये थे । जिस डाक्टर से वे इंजेक्शन आदि लेते थे, उस के ड्राइंग रूम में उन्हों ने संध्या समय लोगों को प्रायः ड्राफ्ट या ताश खेलते देखा था । उन के कुछ इंसपेक्टर भी सदैव खेलने वालों में होते । श्री कोलार्कर का मन बहुत चाहता कि कुछ क्षण उन के साथ जा बैठें और ड्राफ्ट के एक-दो बोर्ड या ताश की एक-दो बाजियाँ खेलें, किन्तु क्लर्कों और इंसपेक्टरों से मिलना-जुलना वे उतना ही बुरा समझते थे, जितना जान-पहचान वालों से । हर बार वे अपनी इस अभिलाषा को मन ही में दबा लेते थे । आज जब वे दफ्तर से आते-आते डाक्टर से इंजेक्शन लेने गये और सदा की भाँति वहाँ ड्राफ्ट की सभा जमी हुई देखी, तो जाने क्यों वापसी पर आते-आते वे 'पंचगनी स्टोअर्ज़' से ड्राफ्ट का बोर्ड और ताश का एक पैकेट लेते आये । किन्तु उन की पत्नी को तो उन से दो बात तक करने का अवकाश न था और वे दोनों चीज़ें उसी प्रकार काग़ज़ में बँधी मेज़ पर पड़ीं थीं और श्री कोलार्कर निर्जीव-से पलंग पर लेटे हुए सिलवर ओक के बेजान तनों को तक रहे थे ।

"साहब, चाय ठंडा हो जायँगा" आया कुछ क्षण साहब के उठने की प्रतीक्षा करके बोली ।

"तुम जाओ, हम पीता है !" श्री० कोलार्कर ने उसी प्रकार लेटे-लेटे कहा, "और मेम साहब को टाइम हो, तो इधर भेजना।"

किन्तु मेम साहिब को टाइम शीघ्र नहीं मिला। संध्या को श्रीमती कोलार्कर खाना रसोई-घर में पका कर बँगले में ले आती थीं, ताकि वर्षा और अँधेरे में रसोई-घर न जाना पड़े। पराठे पकाते और दूसरा समान लाते ले जाते उन्हें देर लग गयी। जब बच्चे को आया के सुपुर्द करके और यह आदेश देकर कि उसे शीघ्र खाना खिला दिया जाय, वे श्री० कोलार्कर के पास आयीं; तो उन का मन बात तक करने को न हो रहा था। वे रेडियो-क्लब के जीवन की सुखद-मधुर कल्पनाओं में खोये हुए थे और नहीं चाहते थे कि कोई आकर उन्हें छिन्न-भिन्न कर दे। जब श्रीमती कोलार्कर उन के पास पलंग की पट्टी पर आ बैठीं और रसोई-घर में अपनी व्यस्तता और बच्चे के हठ का ज़िक्र करते हुए देर के लिये क्षमा माँगी और बुलाने का उद्देश्य पूछा, तो श्री० कोलार्कर ने जैसे किसी दूसरी दुनिया से बोलते हुए केवल इतना कहा :

"मैं आज बाज़ार से आते-आते ताश और ड्राफ्ट लाया था। सोचा था, यदि कुछ समय हो, तो स्वीप की एक-दो बाज़ियाँ खेलें, किन्तु अब तो रात हो गयी।"

"तो फिर क्या हुआ," श्रीमती कोलार्कर ने उन का दिल बढ़ाते हुए कहा, "बस, ज़रा जल्दी खाना खा लीजिए, फिर खेलते हैं।" और यह कह कर वे अपने पति के खाने का प्रबन्ध करने के लिए उठ कर चली गयीं।

रात को खाने आदि से निबट कर श्रीमती कोलार्कर अपने पति

का बिस्तर झाड़ कर बिछाती थी और फिर बच्चे को सुलाती थी। आया बूढ़ी थी और फिर कमरों की सफ़ाई करते, बर्तन मलते, बाज़ार से समान लाते, रसोई-घर से बँगले और बँगले से रसोई-घर के बीसियों चक्कर लगाते हुए थक जाती। इसलिए ज्योंही खाना आदि समाप्त होता, वह बड़े कमरे में चटाई बिछा कर उस पर अपना बिस्तर लगा लेती और उस समय, जब मेम साब नन्हे को 'चिमनी कावड़े' या रघू तोते की कहानी सुना कर, या अँग्रेजी बोलना सिखा कर सुलाने की चेष्टा करतीं, आया बड़े मजे से सो जाती।

जब खाना आदि समाप्त हो गया और आया रोज़ की भाँति बिस्तर बिछा कर लेट गयी, तो श्रीमती कोलाकर ने बच्चे को स्वयं सुलाने के बदले उसे आया के सुपुर्द किया, दबे स्वर में साहब की इच्छा का ज़िक्र किया और कहा कि इसे ज़रा सुलाओ और स्वयं पति की इच्छा का पालन करते हुए उन के सम्मुख जा बैठी।

श्री० कोलाकर को स्वीप खेले वर्षों बीत गये थे। विवाह के प्रथम दिनों में, अपनी नव-परिणीता संगिनि की प्रसन्नता के लिए उन्हों ने महीना भर उस के साथ स्वीप खेली थी। किन्तु उन दिनों उन के लिए स्वीप खेलना अपनी पत्नी को प्यार करने का, बात-बात में उसे चूम लेने या गोद में भर लेने का बहाना-मात्र था और जब स्वीप में उन की इस बढ़ती हुई दिलचस्पी के फल-स्वरूप विवाह के दो महीने बाद ही उनकी पत्नी बच्चे से होकर अपने मैके चली गयी और श्री० कोलाकर ने क्लब की शरण ली, तो आज अढ़ाई-तीन वर्ष से ब्रिज ही उन की एक-मात्र संगिनी थी। ब्रिज के सामने स्वीप उन्हें ऐसी ही लगती, जैसे आधुनिकतम वस्त्रों में आवृत किसी तन्वी के सामने परागैतिहासिक काल की कोई सुन्दरी। फिर भी जब उन की पत्नी उन के

सम्मुख आ बैठी, तो अपने एकान्त की घुटन दूर करने के लिए श्री० कोलार्कर ने कुछ उत्साह से पत्ते बाँटे।

किन्तु तभी नन्हा तुलसी राव, जो आया से गोआ के चूहे की 'हूँ' 'हूँ' वाली कहानी सुन रहा था और उस के पापा और ममी समझ रहे थे कि सोने ही वाला है, "ममी, हम भी खेलेंगा, ताश पत्ते खेलेंगा" कहता और भागता हुआ आया और श्रीमती कोलार्कर की गोद में बैठ गया।

ममी ने उसे चूम कर बड़े प्यार से कहा, "जाओ, बेटा, आया के पास सोओ।"

"सोता नहीं," बेटा बोला, "खेलता है!"

"आया तुम्हें कहानी सुनायेगी, बड़ी चांगलीॐ।"

"कहानी नहीं सुनता, खेलता है, ममी के साथ खेलता है।"

श्री कोलार्कर ने अपने बच्चे की ओर देखा, उन की त्योरी चढ़ गयी उन्हें पहली बार अनुभव हुआ कि उन का यह बच्चा, जो प्रातः ही अपने कमरे से उन्हें 'गुड मार्निंग' बुलाता था और फिर माँ के कंधे से लगे-लगे उन्हें चुम्बन दे जाता था और जिसे वे बड़ा शिष्ट समझते थे, एक दम बदतमीज़ है।

उस समय उन की पत्नी बच्चे को समझा रही थी, "तंग नहीं करते बेटा, पापाजी के पत्ते नहीं लेते, अपने खिलौनों से खेलते हैं" और बेटा चिल्ला रहा था—"खिलौने गन्दे हैं, खिलौनों से खेलता नहीं, पत्ते खेलता है" और मचल रहा था और हाथ-पांव पटक रहा था।

'अत्यन्त उद्दंड लड़का है, माँ ने तनिक भी शिष्टता नहीं सिखायी'—श्री० कोलार्कर ने मन ही-मन कहा और उन के जी में आयी कि तड़ से दो थप्पड़ उस बदतमीज के गाल पर जड़ दें, किन्तु तभी

ॐ बड़ी चाँगली = बड़ी अच्छी

उन्हें कुछ प्रेरणा-सी हुई और उन्हों ने अपने और अपनी पत्नी के सामने पड़े हुए पत्तों को उठा कर बच्चे के हाथ में दे दिया और कहा, "जा, उधर आया के साथ खेल ।"

"आया साथ नहीं खेलता, पापा जी साथ खेलता है ।"

श्री० कोलार्कर की त्योरी फिर चढ़ गयी किन्तु उन की पत्नी बच्चे को उठा कर आया के पास छोड़ आयी और उस से धीरे से कहा—"आया, इसे ज़रा खेलाओ ।" पुत्र को अतीव स्नेह से चूमा और बोली—"बड़ा अच्छा बेटा है, मम्मी को तंग नहीं करता। आया के साथ खेलता है ।" और जब बेटे ने वही वाक्य दोहराया और बड़े आदेशपूर्ण स्वर में आया से कहा—"हमारे के साथ पत्ते खेलो" तो उस की मम्मी उस के पापा के पास लौट गयी ।

श्री० कोलार्कर का उत्साह इतने ही में ठंडा पड़ चुका था, किन्तु फिर भी उन्हों ने अपनी प्रेरणा के अनुसार, "चलो एक ड्राफ्ट ही की गेम खेलते हैं"। कहते हुए ड्राफ्ट की बिसात बिछायी और उस पर मोहरे लगाने लगे ।

किन्तु उन की पत्नी ड्राफ्ट के खेल से अनभिज्ञ थी । धीमे से उस ने कहा, "मुझे तो ड्राफ्ट आता नहीं ।"

कोलार्कर झुँझला उठे, "तुम ने बी० ए० कर लिया और तुम्हें ड्राफ्ट खेलना नहीं आता ?"

बड़े आदर के साथ पत्नी ने विनय की कि बी० ए० में उन्हें ड्राफ्ट नहीं सिखाया गया ।

श्री० कोलार्कर को बड़ा क्रोध आया, किन्तु खेलने की मानो उन्हें ज़िद हो गयी थी । बोले "आसान खेल है । ये मोहरे शतरंज के फ़ील

हो की भाँति एक घर टेढ़ा चलते हैं, किन्तु जब अन्तिम घरों में पहुँच जाते हैं तो फिर आगे पीछे दोनों ओर जितने घर चाहें एक साथ फलाँग सकते हैं।" और उन्हों ने मो राङ्किल कर दिखाया। फिर जैसे कुछ स्मरण हो आने से बोले, "एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है, यदि प्रतिद्वन्द्वी का कोई मोहरा मरता हो तो उसे मारना आवश्यक है, न मारा जायगा तो जुर्माने के रूप में वही मोहरा देना पड़ेगा।"

और यह सब समझा कर उन्हों ने चाल चली।

उनकी पत्नी ने जवाबी चाल चली, तो उन्हों ने समझाया कि यह नहीं, यह चलो, तो अच्छा है। उन्हों ने वही चल दी।

किन्तु अभी खेल चन्द चालों से आगे न बढ़ा था। जिन से उन की पत्नी की 'मूढ़ता' उन पर पूर्णतया सिद्ध हो गयी थी, उस के लगभग सारे मोहरे मर गये थे और श्री कोलाकर का सम्पूर्ण आनन्द किरकिरा हो गया था और उन की इच्छा हो रही थी कि बिसात को उलट कर बिस्तर में जा लेटें, कि नन्हा तुलसी राव नयी ताश के अस्त-व्यस्त पत्तों को दोनों हाथों में सम्भाले आ और उन्हें फ़र्श पर गिराता भागा आया और ड्राफ्ट के मोहरों की ओर संकेत करके चिल्लाने लगा, "दो चार लेगा, ममी दो चार लेगा।"

चार छः महीने पहले, जब वे बम्बई में थे, श्रीमती कोलाकर ने एक दिन बच्चे को ड्राफ्ट के मोहरों-जैसे गोल टुकड़े लाकर दिये थे, जिन पर एक से लेकर बीस तक अंक लिखे थे और बच्चा उन्हें 'दो चार' कहता था।

स्नेह से उस को माँ ने कहा, "इन से नहीं खेलता, बेटा, अपने पत्तों से खेलता है।"

किन्तु बच्चे ने चीख कर कहा कि वह दो चार लेगा।

"मेरा बेटा कोई डर्टी ब्वाय है..." उसकी माँ उसे समझाना चाहती थी, किन्तु शब्द अभी उस के ओठों पर ही थे कि तड़ से एक थप्पड़ उस के बेटे के मुँह पर पड़ा और वह उस की गोद में आ गिरा।

क्षण भर के लिए श्री कोलार्कर को ध्यान आया कि वह तो बच्चा है, उसे इन बातों की क्या समझ है? किन्तु उसी क्षण उन्हें क्रोध आया कि उस की माँ ने उसे यह सब सिखाया क्यों नहीं और जैसे दुगुने वेग से उन्हों ने एक थप्पड़ उस के दूसरे गाल पर जड़ दिया। उन के मस्तिष्क की तनी हुई नसें और तन गयीं और जैसे इस अनवरत बरसती वर्षा, पंचगनी के गला घोंटने वाले एकांत, अपनी बीमारी, पत्नी की मूर्खता—सब का क्रोध उन्हों ने निरन्तर कई मुक्कों के रूप में अपने पुत्र की पीठ पर निकाल दिया और झल्लाये हुए से जाकर बिस्तर में धँस गये।

बच्चे की घिग्घी बँध गयी थी। सिसकियों के मध्य वह—"अब नहीं माँगता, दो-चार नहीं माँगता, अपने पत्तों से खेलता है।" कहे जा रहा था और उन की पत्नी उसे कन्धे से लगाये बाहों में भींचे जा रही थी।

उसी क्षण श्री० कोलार्कर की दृष्टि अपनी पत्नी से चार हुई और उन्हें लगा, जैसे उस की दो आँखें लपकती हुई दो तलवारें हैं। कुछ ऐसी निन्दा, घृणा, उपेक्षा और आक्रोश उन में लपलपा रहा था कि कोलार्कर उन का सामना न कर सके। अनायास उन की आँखें झुक गयीं।

किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी पत्नी ने अपनी उस तीव्र-दृष्टि को अपने बच्चे की ओर मोड़ दिया और डाँट कर बोली:—

"फिर तो पापा जी को तंग नहीं करेगा?"

"नहीं करेगा।" सिसकियों के मध्य बच्चे ने उत्तर दिया।

और प्रबल इच्छा-शक्ति से, घने मेघों में झलक उठने वाले सूक्ष्म-से प्रकाश सी मुस्कान अपने ओठों पर लाकर उन की पत्नी ने बच्चे को छाती से भींचते हुए कहा—

"मेरा बेटा बड़ा गुड-ब्वाय है, पापा जी से क्षमा माँग लेता है।"

और नन्हें ने रोते हुए कहा, "पापा जी, क्षमा करो जी !"

"सन्धि करो पापा जी से !"

और वह नन्हें को कन्धे से लगाये हुए अपने पति के पास ले गयी और माँ की गोद से उतर कर रोते-रोते बच्चा श्री कोलार्कर के गले से चिपट गया।

सहसा श्री० कोलार्कर के कंठ में कुछ गोला सा उभर आया। उन्हों ने अनायास बच्चे को हृदय से भींच लिया। उन के नेत्र सजल हो गये, किन्तु उन की पत्नी उन की यह दुर्बलता न देख ले, इस विचार से उन्हों ने प्रकट अपनी उदासीनता को बनाये रखा और कहा—"बस, बस !" और उसे अपनी पत्नी को वापस दे दिया।

दूसरे कमरे में श्रीमती कोलार्कर बच्चे को सुला रही थीं और नींद भरे स्वप्निल स्वर में सिसकते-सिसकते माँ के साथ-साथ बच्चा कह रहा था "पापाजी को तंग नहीं करता, अपने पत्तों से खेलता है, बाज़ार से दो चार लायेंगा, पापाजी का खेल नहीं छेड़ेंगा !" और अपने कमरे में श्री० कोलार्कर बिस्तर पर लेटे बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रहे थे।

माँ के स्निग्ध, सजल चुम्बनों से नन्हें के नेत्र मुँद गये और वह सो गया किन्तु निद्रावस्था में भी वह सिसक रहा था। करुणा और स्नेह से अभिभूत एक दृष्टि उस पर डाल कर श्रीमती कोलार्कर अपने पति के कमरे में आयीं।

"क्यों, सोये नहीं ?"

"नींद नहीं आ रही।"

"सिर दबा दूं ?"

"नहीं।"

"क्यों, क्या बात है ?"

"सोचता हूँ, योंही बच्चे को पीट दिया।"

"फिर क्या हुआ, मैं नहीं पीटती क्या ?"

किन्तु श्री कोलाकर को सान्त्वना न मिली। बोले, "मुझे व्यर्थ ही गुस्सा आ गया। बच्चा तो बच्चा ही है। इस प्रकार पीटने से बच्चे के दिल में डर बैठ जाता है।"

"डर किसी का तो होना ही चाहिए, मुझ से तो ज़रा भी नहीं डरता।"

श्री कोलाकर के अहम् को सान्त्वना मिली, किन्तु उन की झुँझलाहट दूर न हुई। उन्हों ने अपनी पत्नी से जाकर सोने के लिए कहा और करवट बदल ली।

श्रीमती कोलाकर कमरे की बत्ती बुझा कर चुपचाप चली गयीं। अपने कमरे में जाकर उन्हों ने टेबल लैम्प भी बुझा दिया, ताकि उन के पति की नींद में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

किन्तु उस घने अंधकार में समस्त घटना अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण के साथ श्री कोलाकर के सामने घूम गयी और यह सोच कर कि उन्हों ने बच्चे को निपट-निर्दोष पीटा है, उन की नींद बिल्कुल उड़ गयी।

एक घंटे के पश्चात उन की पत्नी फिर उन के कमरे में आयी।

"सोये नहीं क्या ?"

कोलाकर सहसा हँस दिये, "नींद नहीं आयी !"

"आप तो नन्हे से बढ़ गये"—वह उन के सिरहाने आ बैठीं और बड़े प्यार से उन का सिर दबाते हुए बोली, "उसे तो कुछ याद भी न रहेगा, देख लीजिएगा, प्रातः उठते ही आप को 'गुड-मार्निङ्ग' बुलायगा और अब तंग न भी करेगा। कभी-कभी दो-चार थप्पड़ लगाने में कोई

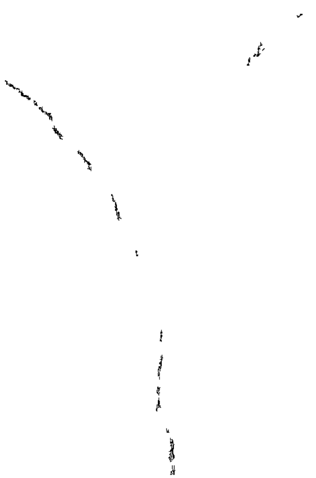
हानि नहीं !" और इस प्रकार सान्त्वना देते हुए वह उनकी कनपटियाँ सहलाने लगी।

कुनमुना कर श्री कोलारकर ने अपना सिर अपनी पत्नी की गोद में रख दिया।

दस मिनट ही में वे खर्राटे लेने लगे।

बहुत धीरे से उन की पत्नी ने उन का सिर पुनः तकिये पर टिका दिया। बिना शब्द किये बिस्तर से उतरी, क्षण भर उन्हें सोये हुए देखती रही, फिर दूसरे कमरे में जाकर उस ने अनायास अपने सोये हुए बच्चे को चूम लिया।

नाटक



"आज तो रखिया ने बड़ा अच्छा खाना पकाया है," शिव प्रसाद ने अपनी पत्नी से कहा, और भर-पेट स्वादिष्ट-भोजन पाने की आनन्द-दायक अनुभूति के साथ गाव-तकिये का सहारा लेते हुए टाँगें फैला दीं।

उन की पत्नी ने पंखे को ज़रा और तेज़ कर दिया और उन के पास आ बैठी।

शिव प्रसाद की आँखों में हल्की-हल्की गनोदगी छाने लगी। तन्द्रिल स्वर में बोले, "इतना अच्छा पुलाव इस ने आज तक कभी नहीं पकाया। क़ोर्मा भी बेहद लज़ीज़ था और दही में प्याज़ के कतलों के साथ पोदीना—वाह!"

पत्नी ने कहा, "मन होता है तो अच्छा पकाती है नहीं रोज़ बेगार टालती है,"

"तुम कभी किसी की प्रशंसा न करोगी कंची, चाहे कोई मर जाय

बेचारा" और हँस कर शिव प्रसाद ने करवट बदल ली।

"जी हाँ! मैं हूँ जो ऐसी फूहड़!"

तनिक मुड़ कर कनखियों से शिव प्रसाद ने देखा—भ्रू भंग था और ओठ फड़फड़ा रहे थे। वे कुछ उत्तर देना चाहते थे, किन्तु सहधर्मिणी की यह आकृति देख कर चुप बने रहे। किस समय चुप साध लेना श्रेयस्कर है, कब बात का पहलू बदलना और कब गर्ज उठना—ये सब बातें उन्हों ने अपने इस चार वर्ष के वैवाहिक जीवन में भली-भाँति जान ली थीं। इसी लिए यद्यपि उन की पलकें इतनी भारी न हुई थीं कि झुक कर बन्द हो जातीं, किन्तु उस समय शिव प्रसाद ने उन्हें बन्द कर लेने में ही अपना कल्याण समझा।

श्रीमती जी इस ताक में थीं कि वे कुछ उत्तर दें तो उस के इस आनन्द को तनिक हल्का करने का शुभ-प्रयत्न करें, किन्तु शिव प्रसाद टस से मस न हुए। तभी रधिया ने अपने बारीक, सानुनासिक, मीठे, लटकते से स्वर में कहा, "बाबू जी पान न खायँगे आप?"

रधिया का यह स्निग्ध-तरल-स्वर शिव प्रसाद को सदैव भला प्रतीत होता था। उन्हें अपनी स्वर्गीया माँ का स्मरण हो आता था, जिसे उन्हों ने कभी देखा न था और यदि शैशव में कभी देखा भी था तो वह स्मृति इतनी धुँधली थी, कि वे कभी उसे रेखाओं में अंकित न कर पाये थे। माँ के लाड प्यार के सम्बन्ध में उन्हों ने बहुत कुछ पढ़ा और सुना था और रधिया जब उन्हें बुलाती थी तो उस के स्वर में उन्हें वैसी ही तरलता, कोमलता और स्निग्धता महसूस होती थी जिस की कल्पना वे अपनी माँ के स्वर में किया करते थे। और यद्यपि वह उन्हें "बाबू जी" कह कर पुकारती थी, किन्तु उन्हें सदैव यही लगता था मानो वह "बेटा" कह कर पुकार रही हो।

"बाबू जी, पान न खायेंगे आप ?" शिव प्रसाद को लगा मानो माँ कह रही हैं "बेटा पान न खाओगे तुम ?" उन का जी चाहा—बेटा ही की तरह लाड से उसे कोई उत्तर दें, किन्तु तभी उन्हें ध्यान हो आया कि रधिया तो उन की नौकरानी है और उन की सहधर्मिणी का यह आदेश है कि नौकरों को सदैव नौकरों की जगह पर रखना चाहिए। तनिक ढील दो तो वह अपनी हस्ती भूल जाते हैं, सिर को आने लगते हैं—और अपनी भावनाओं को दबा कर, वाणी को संयत करके और स्वर को ज़रा मालिकाना बना कर उन्हों ने कहा, "हाँ ले आओ पान !"

रधिया तश्तरी में पान ले आयी। शिव प्रसाद ने ज़रा सा उठ कर एक बीड़ा उठा लिया। फुर्ती से रधिया ने उगालदान लाकर बड़ी सावधानी से उन के पास रख दिया।

"बेहद नफ़ीस पान बनाया है तुम ने रधिया !" पान चबाते चबाते अपने मालिकाना स्वर को भूल कर शिव प्रसाद ने कहा," आनन्द आ गया —सचमुच !"

रधिया के चेहरे की झुरियां निमिष मात्र के लिए मिट सी गयीं, सिर और आँखें झुक गयीं, लाल लाल दाँत चमक उठे और चुनरी को अपने पतले-सकुड़े सीने पर ठीक करते हुए उस ने लजाते लजाते कहा, "आप की कृपा है बाबू जी।"

"खाना भी आज अच्छा पका था !"

वास्तव में 'अच्छा' से पहले वे 'बेहद' का विशेषण लगाना चाहते थे किन्तु इस बीच में उन की आँखें श्रीमती कंचनमाला से चार हो गयी थीं और उन्हों ने मात्र अच्छा कह देना ही पर्याप्त समझा था। और स्वर को भी ऐसे बना लिया था मानो कह रहे हों—'साहब बहुत खुश हुए।'

इस के उत्तर में रधिया का सिर तनिक और झुक गया, उस की मुस्कान कुछ और फैल गयी और उस के गाल और ठोढ़ी पर गोदने के चिन्ह कुछ और उभर आये।

पान को मजे से चबाते और आनन्द से उस के रस को पघोलते हुए शिव प्रसाद फिर लेट गये। उन्हें पान खाने का कुछ ऐसा व्यसन न था। कभी जब उन्हें खाना बहुत अच्छा लगता था तो वे पान भी ले लेते थे। शायद इसी बात की ओर इशारा करते हुए रधिया ने कहा, "आप तो खाते ही नहीं बाबू जी, नहीं मैं तो वह पान खिलाऊँ कि उम्र भर न भूलें।"

शिव प्रसाद हँसे—"दुनिया में केवल तीन चीजें रधिया संयोग ही से रुचि के अनुसार मिलती हैं—पान, चाय का प्याला और पत्नी! इस का क्या भरोसा है कि आज जो पान मिला है, ऐसा ही कल भी मिलेगा!",

"पति तो सदा अच्छे ही मिल जाते होंगे!" कंचन माला तिनक कर बोलीं।

"पत्नी में पति शामिल है", शिवप्रसाद ने हँसते हुए कहा, "मैं पति हूँ, इसलिए मैंने पत्नी का नाम लिया, कोई पत्नी यही बात कहती तो पति का नाम लेती, मैंने छोटे बड़े सब तरह के होटलों में चाय पी है। कई बार किसी साधारण से रेस्तोरां में चाय का प्याला रुचि के अनुसार मिल जाता है और कई बार बड़े से बड़े होटल में नहीं मिलता। ऐसा प्याला जिस में चाय, चीनी और दूध उचित मात्रा में, बिलकुल रुचि के अनुसार मिले हुए हों, कभी ही मिलता है। पान का भी यही हाल है और बीवी—उस का मन-पसन्द मिलना तो और भी संयोग की बात है।" और अपने इस मज़ाक पर स्वयं हँस कर वे फिर गाव-तकिये के

सहारे लेट गये और पत्नी की ओर देखे बिना उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

रधिया ने पान की तशतरी मालकिन की ओर बढ़ायी।

मालकिन ने टेढ़ी नज़र से तशतरी की ओर देखा और फिर भँवें सिकोड़ते हुए पान उठा लिया, लेकिन मुँह में रखते ही उन्हों ने कहा, "यह पान बनाया है तुमने या जोशांदा?—इतनी सौंफ़ और मुलहटी डाल दी है।"

"बाबू जी को खाना था इसलिए," रधिया ने कहा, "नहीं हम लोग तो छालिया के अलावा पान में कुछ नहीं डालते—इलायची तक भी नहीं।"

"तो क्या हमें तुम ने पशु समझा है?" और श्रीमती कंचन माला ने पान जाकर थूक दिया।

"बाबू जी मोटा पान पसन्द करते हैं बीबी जी", रधिया ने सफ़ाई दी।

शिव प्रसाद ने वहीं लेटे-लेटे ठहाका मारा और टाँगें पूरी तरह फैलाकर चादर मुँह पर खींच ली और आँखें बन्द कर लीं।

उस समय रधिया ने तनिक समीप होकर कहा, "एक बिनती थी मेरी बाबूजी।"

"हूँ!" शिवप्रसाद ने पूर्ववत आँखें बन्द किये हुए कहा।

"सुनते हैं बाबूजी इस वर्ष पार साल से भी बुरी दसा होगी, गेहूँ तो दूर रहे चने तक रुपये के सेर सेर मिलेंगे, यदि आप कुछ परवस्ती करें तो बड़ी दया हो।"

तन्द्रिल स्वर में शिव प्रसाद ने कहा, "हूँ!"

"बाल बच्चे आपका गुण गायेंगे। हम ग़रीबों का आप के सिवा कौन है?"

कंचन माला ने वापस आकर पूछा, "तू चाहती क्या है?"

बीबी जी गेहूं आ गया है बाजार में—रुपये का साढ़े तीन चार सेर मिलने लगा है—पर सुनती हूँ कुच्छेक दिन में मूल्य फिर चढ़ जायगा और फिर देखने को भी दाना हाथ न आयगा। आप का बड़ा दान होगा बीबी जी यदि आप गेहूँ की एक बोरी ले दें। चार छः महीने गुज़र जायँगे। चने मिला कर खा लिया करेंगे।"

"एक बोरी ले दें!"

"लोग सर्दियों के लिए गेहूँ भर रहे हैं बीबी जी। सुनती हूँ सर्दियों में गेहूँ किसी दाम पर भी हाथ न आयगा, न जाने यह निगोड़ी लड़ाई कब तक रहेगी।"

कंचन माला ने चिन्तित होकर कहा, "गत-वर्ष भी तो यही हाल हुआ था। पहले पहल रुपये का छः सेर मिलता था, फिर तीन सेर भी हाथ न आया था। बहुतेरा कहती थी इन से कि कुच्छेक बोरियाँ ले लो पर ये सुनते ही न थे—एक रुपये के आटे के लिए मैं सारी खारी बावली घूम आयी थी।"

"इसी लिए कहती हूँ बीबी जी, आप का दान होगा। मेरी तनख़ा में से रुपये काट लीजिएगा।"

"तुम्हारी तनख़ा है ही कितनी!"

"चार छः महीने में उतर जायँगे।"

"लेकिन अब तो महीना ख़त्म होने को है। तनख़ा तो कब की समाप्त हो गयी। कल चीनी तक के लिए पैसे न थे।"

"जी आपके यहाँ क्या कमी है बीबी जी?"

"हाँ, हाँ, दिला देंगे रधिया!" शिव प्रसाद ने नींद से भारी स्वर में कहा, "शाम को याद दिला देना।"

रधिया उन को आशीर्वाद देती चली गयी तो कंचन माला ने

कहा, "मैं भी सोचती थी कि आज इतना अच्छा जो खाना पका है, तो बे-मतलब नहीं।

किन्तु शिव प्रसाद ने इस का कोई उत्तर नहीं दिया। आँखें बन्द किये चुपचाप पड़े रहे।

पड़े तो रहे, किन्तु उन्हें नींद न आयी। स्वादिष्ट भोजन भर-पेट खाने के कारण उन की आँखों में जो हल्की हल्की तन्द्रा छा रही थी, उसे पेट भरने के लिए प्रति-दिन किये जाने वाले इस श्रम और संघर्ष के विचार ने सर्वथा उड़ा दिया। युद्ध से पैदा होने वाली परिस्थितियाँ एक एक करके उन के सामने आने लगीं। निम्न और मध्य दोनों वर्गों को किस विपत्ति का सामना करना पड़ रहा था उन दिनों, वे सोचने लगे।

······उन के लड़के को पढ़ाने के लिए एक अध्यापक आया करते थे। अपने अर्धचेतन मन में शिव प्रसाद उन से इतनी घृणा करते थे कि आज तक उन का नाम तक जानने की इच्छा उन्हों ने प्रकट न की थी। उन का लड़का पाँचवीं श्रेणी में पढ़ता था, गणित में कुछ कमज़ोर था, स्वयं उसे पढ़ाने के लिए समय न निकाल पाते थे, इस लिए उन्हों ने मित्रों से कह रखा था कि यदि कोई ट्यूटर मिले तो उन्हें बता दें। युद्ध के कारण न केवल जीवन की आवश्यकता की चीजें मँहगी हो गयीं थीं वरन् मज़दूरों की मज़दूरी, ताँगे वालों का किराया, नौकरों का वेतन और ट्यूटरों की फ़ीस तक बढ़ गयी थी। जो नौकर पहले पाँच रुपये महीने पर प्रसन्नता से आ जाता, वह पन्द्रह रुपये पर भी आने से इनकार कर देता। ट्यूटर तो मिलते ही न थे। मैट्रिक पास से लेकर बी० ए० तक सब युवक सेक्रेटेरियट के आस पास मानो जादू के प्रभाव से अस्तित्व पा जाने वाले अगणित दफ़्तरों और

अस्थाई इटमेंट्स में समा गये थे। जो शेष थे, उन के पास इतना काम था कि वे सीधे मुँह बात भी न करते थे।

एक शाम जब वे निरन्तर तीन महीने तक ट्यूटर की प्रतीक्षा करने के बाद हार कर स्वयं ही बच्चे को पढ़ाना आरम्भ करने लगे थे तो एक महाशय उन से मिलने आये। उन की आयु, जैसा कि उन्हें बाद में पूछने पर ज्ञात हुआ, पैंतालीस वर्ष की थी, किन्तु देखने में वे पचपन के लग रहे थे। उन के सिर पर कुछ रूखे ख़रख़रे बाल थे, जिन पर एक मैली सी गाँधी टोपी अटकी हुई थी। गाल अन्दर को धँसे हुए थे, जबड़ों की हड्डियाँ उभर आयी थीं। सामने के चार दाँत टूटे हुए थे, दाढ़ी के खिचड़ी बाल बढ़ आये थे और कटे हुए सरकंडों की खूँटियों से खड़े थे, मैली सी खुले गले की कमीज़ और उस पर एक पुराना सा कोट उन्हों ने पहन रक्खा था। कमर में टख़नों तक ऊँचा पायजामा था—मालूम होता था जैसे किसी पुरानी पतलून को काट कर बनाया गया है, क्योंकि कपड़ा मोटी सफेद ज़ीन का था और घुटनों पर पैवन्द लगा हुआ था। पाँव मैले कुचैले थे और उन्हों ने घिसे हुए पुराने सलिपर पहन रखे थे।

प्रोफेसर शिव प्रसाद तो उन की आकृति ही देखकर उन्हें जवाब दे देते, किन्तु वे महाशय उन के एक प्रिय मित्र की सिफ़ारिशी चिट्ठी भी लाये थे जिस में लिखा था कि वे नार्मल पास हैं, एक प्राइमरी स्कूल में पढ़ाते हैं और बच्चों को शिक्षा देने में उन्हें विशेष निपुणता प्राप्त है।

इन अध्यापक महोदय को उन के यहाँ आते डेढ़ वर्ष हो गया था। इस बीच में उन के पतलून नुमा पायजामे में और भी कई पैवन्द लग गये थे; कोट इतना फट गया था कि उन्हें विवश हो उसे विदा देनी पड़ी थी; जबड़ों की हड्डियाँ कुछ और उभर आयी थीं, दाढ़ी के बाल कुछ

ज्यादा बढ़े बढ़े रहने लगे थे, पक भी सारे गये थे और बच्चे पढ़ाने के अतिरिक्त अब वे लोगों को घी और गेहूँ भी सप्लाई किया करते थे—शनि की सन्ध्या को दिल्ली के निकटवर्ती देहात में चले जाते और कभी घी का कनस्तर और कभी मन डेढ़ मन गेहूँ सिर पर लाद कर इतवार को वापस लौटते। इस तरह उन्हें कुछ पैसे बच जाते, लेकिन लोगों को घी और गेहूँ सप्लाई करने के बावजूद उन के घर तेल की तरकारी बनती, और गेहूँ में जौ मिलाये जाते। जब सन्ध्या के समय वे उन के लड़के को पढ़ाने आते, तो मूढ़े पर बैठे बैठे थकान-मात्र से उन की आँखें मुँदने लगतीं—रोज़ शिव प्रसाद चाहते कि उन को जवाब दे दें, किंतु इच्छा होने पर भी, श्रीमती कंचन माला के बार बार अनुरोध करने पर भी, वे अभी तक उन्हें जवाब देने का साहस न कर पाये थे।

शिव प्रसाद ने बेचैनी से करवट बदली।

·········पिछले इतवार वे पूर्ववत दिन चढ़े तक सो रहे थे कि अचानक पड़ोस में शोर सुन कर जाग उठे। ज्ञात हुआ कि पड़ोस में जो क्लर्क रहते हैं, उन में और उन के छोटे भाई में जंग हो रही है। उन का भाई कुछ ही दिन पहले अचानक दिल्ली आ गया था—माँ ने भेज दिया था कि बड़ा भाई कहीं नौकर करा देगा—इतनी जल्दी नौकरी मिल जाती है दिल्ली में! लड़का कुछ खिलंडरा और बेपरवाह सा था। प्रातः सायं व्यायाम करता, डंड पेलता, बैठक लगाता, सुबह लस्सी और शाम को दूध पीने की उसे आदत थी, किन्तु दूध लस्सी तो दूर रहे, जिस दिन से आया था, भाभी ने सालन तेल से बनाना आरम्भ कर दिया था और आटे में बेसन मिला दिया था। छोटा भाई रो रहा था, शिकायत कर रहा था कि भाभी ने उस पर व्यंग्य किया है कि इस का बस चले तो आदमी मार कर खा जाय।

बड़े भाई (मुर्दार की गंध पाकर उड़ आने वाले गिद्धों की भाँति इकट्ठे हो जाने वाले) पड़ोसियों को सफ़ाई दे रहे थे कि तीन चार वर्ष पहले जब यही भाई उन के पास एक वर्ष तक रह गया है और कोई ऐसी बात नहीं हुई तो इस बार ही क्योंकर हो सकती है। अवश्य ही उसे भ्रम हुआ है।

........दो दिन हुए उन की मेहतरानी की गोद की बच्ची मर गयी थी। शिव प्रसाद ने शोक प्रकट किया तो बेचारी रो दी। "बीमारी क्या हुई थी?" उन्हों ने पूछा।

"बीमारी क्या होती बाबू जी!" मेहतरानी ने आँसू पोंछ कर कहा, "भूख के दुख से मर गयी।

"भूख के दुख से!" एक ठंडी सनसनी सी शिव प्रसाद के शरीर में दौड़ गयी।"

"और क्या बाबू जी," मेहतरानी बोली, "पहले तो सूखी रोटी के साथ कुछ दाल तरकारी मिल भी जाती, अब तो वह भी नहीं। गेहूँ हम ग़रीबों के भाग्य में कहाँ? इस गर्मी की ऋतु में बाजरे और जौ की रोटियाँ खाने से मेरी छातियाँ सूख गयीं, लाख चाहती पर दूध न उतरता, सूख सूख कर बच्ची मर गयी।"

"तुम दूध पीकर देखतीं, कंचन को भी यही शिकायत थी, दूध वह पीती न थी और डाक्टर कहता था—जितना भी दूध पिया जाय अच्छा है।"

"आठ आने सेर दूध बाबू जी, मैं कहाँ पाती उतना दूध? एक दो दिन की बात होती तो किसी न किसी तरह प्रबन्ध कर लेती, किन्तु रोटियों के तो लाले पड़े रहते हैं, दूध कहाँ से आता?........"

सोचते सोचते शिव प्रसाद की कनपटियाँ दुखने लगीं। वे स्थानीय कालेज में प्रोफ़ेसर थे। दो सौ रुपया पाते थे। यद्यपि महँगाई ने उन के दैनिक जीवन पर भी प्रभाव डाला था, किन्तु उन के घर में उन की पत्नी और बच्चे के अतिरिक्त दूसरा कोई न था—माँ बाप खाते पीते आदमी थे और उन से कुछ पाने के बदले उन्हें कुछ देते ही रहते थे। इस लिए इस महँगाई को उन्हों ने उस तीव्रता से महसूस न किया था। इस में सन्देह नहीं कि इन तीन वर्षों में वे केवल एक ही गर्म-सूट सिला पाये थे और श्रीमती कंचन माला इस बीच में चार पांच रेशमी साड़ियों से अधिक न ख़रीद पायी थीं। और बाज़ार में छः आने वाला मोज़ा डेढ़ रुपये और दस आने की क्रीम अढ़ाई रुपये को मिलती थी। किन्तु उन के पास सूटों, साड़ियों, मोज़ों, रुमालों और साधारण आवश्यकता की दूसरी चीज़ों का इतना बाहुल्य था कि परिस्थित की यह यथार्थता उन की कल्पना से परे की बात थी कि साधारण आवश्यकता की चीज़ों का ख़रीद पाना भी आज कल कष्ट-साध्य हो गया है।

उन्हें यदि कुछ कष्ट हुआ भी तो अनाज आदि इकट्ठा करने के सिलसिले में हुआ था। वे जो कमाते थे, ख़र्च कर देते थे। बचाना उन्हों ने कभी सीखा न था। इसलिए गत-वर्ष लकड़ियाँ, कोयले और दूसरी आवश्यकता की चीज़ें वे एक दम इकट्ठी न ले पाये थे। एक कारण यह भी था कि उन्हें किसी ने बताया था—गेहूँ पर कन्ट्रोल होने वाला है, अनाज सस्ता हो जायगा—लेकिन मुसीबत तो यह थी कि जिस चीज़ पर कन्ट्रोल होता वही बाज़ार से ग़ायब होकर ब्लैक-मार्केट में चली जाती। और ब्लैक-मार्केट में जाकर कोई चीज़ खरीदना उन के बस की बात न थी—एक दिन जब वे दियासिलाई की डिबिया लाने गये तो उन के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्हें बाज़ार में दो आने तक भी

दियासिलाई की डिबिया न मिली—मालूम हुआ कि उसी दिन दियासिलाई की डिबिया पर कन्ट्रोल हुआ था—जो पड़ोसी पहले दियासिलाई की डिबिया देकर भूल जाते थे, वे अब तीलियों तक का हिसाब रखने में संकोच न करते थे।

शिव प्रसाद का दम घुटने सा लगा। यद्यपि कमरे में निरन्तर पंखा चल रहा था किन्तु उन्हें प्रतीत हुआ जैसे वहाँ पहले से कहीं अधिक उमस हो गयी है। वे उठे, उन्हों ने कमरे की खिड़की खोल दी, बयार का ठंडा झोंका आया, उन्हों ने चदरा उठाया और चलने लगे।

कंचन माला ने पूछा, "किधर चले?"

"जी कुछ भारी-भारी सा है, सोचता हूँ बाज़ार तक हो आऊँ"

"गेहूँ और लकड़ी कोयले का भी कुछ प्रबन्ध कर आइएगा। आठ रुपये मन भी पिछले साल न मिला था कोयला, रधिया को तो लेकर देने को तैयार हो गये, कुछ अपनी भी चिन्ता है, मैं इस बार सर्दियों भर का अनाज भर लेना चाहती हूँ। आप प्रबन्ध नहीं कर सकते तो मुझ से कह दीजिये, मैं पिता जी से कहूँ।"

"रामभज दत्त की ओर जा रहा हूँ, "उन्हों ने थके, चिढ़े स्वर में कहा—उसी से कहूँगा, तुम जानती हो मुझे तो इन बातों की कुछ समझ नहीं।" और छड़ी उठा कर वे बाहर निकले।

बरामदे में आकर एक बेचैन सी दृष्टि उन्हों ने क्षितिज पर डाली। काले कजरारे बादल उठ रहे थे, उन में कुछ आक्रमण को व्यग्र सेनानायकों की भाँति विशाल नीले आकाश में कुछ आगे को बढ़ आये थे। लगता था जैसे निमिष-मात्र में सारे के सारे आकाश को रौंद डालेंगे।

लम्बी साँस लेकर शिव प्रसाद चल पड़े। उन की आँखों के समक्ष यूरोप की विशाल धरती घूम गयी—निर्मल, निस्तब्ध नीलाम्बर की भाँति वह भी तो कुछ वर्ष पूर्व, नीरव, निखरी-धुली पड़ी थी। फिर इन

उद्दंड मेघों की ही तरह जर्मनी से आततायी हिटलर उठा और जैसे पलक झपकते ही उस ने सारे यूरोप को रक्त-रंजित बना डाला।

शिव प्रसाद सीधे साधे शान्ति-प्रिय व्यक्ति थे। कालिज में गणित के अध्यापक थे। अपने शिक्षण-काल और उस के बाद अब तक भी वे एलजेब्रा, ज्योमेट्री, ट्रिग्नोमेट्री और डिफ्रेंशल कैलकूलस में इतने उलझे रहे थे कि कभी राज-नीति, अर्थशास्त्र और इतिहास में दिलचस्पी न ले सके थे। वे कभी समझ न पाये थे कि मानव क्यों मानव के रक्त की होली खेल कर प्रसन्न होता है। क्यों अपने ही भाई को मृत्यु के घाट उतारने में किसी प्रकार की झिझक महसूस नहीं करता। क्यों सुख और शान्ति से नहीं रहता—स्वयं भी आराम से रहो और दूसरो को भी रहने दो—इस स्वर्ण-सिद्धान्त को मान कर वह क्यों नहीं चलता ?

ध्यान-मग्न शिव प्रसाद चले जा रहे थे कि सहसा एक भारी कोलाहल के कारण चौंक पड़े। एक दुकान पर अत्यधिक भीड़ जमा थी और अगनित मज़दूर चादरें, कनस्तर और दूसरी चीजें सम्हाले आटा लेने के हेतु एक दूसरे पर पिले पड़ते थे।

शिव प्रसाद ने एक झुरझुरी सी ली और जल्दी जल्दी क़दम बढ़ाते हुए चले—वे अभी रामभज दत्त से जाकर कहेंगे कि जो भी हो वह उन के लिए पाँच छः बोरी गेहूँ का प्रबन्ध कर दे। उन से तो प्रलय-पर्यन्त इन गंदे, अपढ़, असभ्य मज़दूरों से लड़-झगड़-कर अनाज प्राप्त न किया जायगा।

रामभज दत्त गली बताशा में रहता था। बैल गाड़ियों, छकड़ों, तांगों और साइकिलों को पार करके, हलवाइयों की दुकानों से उठने वाले

घटिया वनस्पति घी की दुर्गन्ध से बचने के लिए मुँह को चादर के पल्लू से ढांपे, वे रामभज दत्त के मकान के नीचे पहुँचे। सीढ़ियों के साथ जो चीनी की दुकान थी, वहाँ इतनी भीड़ लगी हुई थी कि गुज़रना मुश्किल था। सेर दो सेर चीनी के लिए लोग एक दूसरे पर पिले पड़ते थे। और इस बाज़ार में गुड़ शक्कर और चीनी की इतनी बहुलता होती थी कि शाम सवेरे उड़ने वाली भिड़ों और मधु-मक्खियो के मारे गुज़रना तक कठिन हो जाता था।

प्रोफेसर शिव प्रसाद ने रामभज दत्त को कई आवाजें दीं, किन्तु वहाँ इतना कोलाहल मचा हुआ था कि पूरे ज़ोर से चिल्लाने पर भी आवाज़ रामभज दत्त तक न पहुँची, तब किसी न किसी तरह भीड़ में रास्ता बना कर वे सीढ़ियों तक पहुँचे और ऊपर जाकर थकन के मारे आराम कुर्सी पर लेट गये। इस संघर्ष में उन की रेशमी चादर फट गयी थी, कुर्ता मैला हो गया था और इस पर सिलवट पड़ गये थे।

"यह लड़ाई कम्बख्त कब ख़त्म होगी?" कुछ देर सुस्ताने के बाद उन्हों ने रामभज दत्त से कहा था, "जीवन दूभर हो गया है। आटा, घी, चीनी, लकड़ी कोयला कुछ भी तो नहीं मिलता और तो और यह कम्बख्त दिया सिलाई की डिबिया भी एक अमोल शै बन गयी।"

"यह तो दिखायी ही दे रहा था," रामभज दत्त ने भविष्यद्-वेत्ताओं के से अन्दाज में कहा।

"परन्तु . . . ."

परन्तु वे क्या कहना चाहते थे शिव प्रसाद तै न कर पाये।

रामभज दत्त ने कहा, "मैंने तुम से पिछले साल भी कहा था पर तुम ऐसे साधु आदमी हो कि माने ही नहीं, मेरी ओर देखो—साल भर का राशन जमा कर रखा है" और वह शिव प्रसाद को सगर्व अपने साथ

अन्दर ले गया। बरामदे में एक दूसरी के ऊपर गेहूँ की दस बोरियां रखी हुई थीं।

"अन्दर गोदाम में कम से कम दो बोरियां चीनी की होंगी" रामभज दत्त ने गर्वस्फीत स्वर में कहा, "और लुत्फ़ की बात यह है कि मैंने रुपये के छः सेर गेहूँ ख़रीद कर जमा कर रखे हैं। बस जब तक ख़त्म होंगे, मैं और ख़रीद लूँगा।"

शिव प्रसाद ने ईर्ष्या-मिश्रित आश्चर्य से उस दूरदर्शी की ओर देखा और फिर जैसे विवशता से कहा, "भाई, जैसे भी हो, मेरे लिए कम से कम सर्दियों भर के लिए राशन और दूसरे सामान का प्रबन्ध कर दो। कञ्चन मेरी जान खा गयी है और तुम जानते हो, मेरे पास इस भीड़ में लड़-झगड़ कर चीजें हासिल करने के लिए न समय है, न साहस!"

और वे आकर चुपचाप कुर्सी पर बैठ गये। इस के बाद अपनी इस कारगुजारी से फूल कर रामभज दत्त अपने कारनामों के सम्बन्ध में जो बातें सुनाता रहा, उन्हों ने उन में से एक भी नहीं सुनी। उन का मस्तिष्कि तो दिन-ब-दिन उलझती हुई इस आर्थिक समस्या को सुलझाता-उलझाता रहा। उन के मन पर कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसी शिथिलता, कुछ ऐसा हीन-भाव छा गया था कि रामभज दत्त की किसी बात का उत्तर देना उन के लिए कठिन हो गया। बीस तीस मिनट इसी तरह बैठे रहने के बाद वे उठ खड़े हुए और रामभज दत्त से पुनः राशन का प्रबन्ध कर देने की प्रार्थना करके नीचे उतर आये।

नीचे भीड़ पहले से ज्यादा हो रही थी। कुछ लोग इस भीड़ में रास्ता बनाने की शक्ति न पाकर, थक हार कर, आस पास की दुकानों के तख्तों पर बैठ गये थे—ये लोग यदि पंक्ति बाँध कर खड़े हो जायँ तो बड़ी आसानी से सब को सब चीज़ मिल जाय और समय भी कम

लगे—शिव प्रसाद ने सोचा—लेकिन शायद बल शालियों को यह स्वीकार न था, इसे शायद वे अपने बल का अपमान समझते थे। एक उपेक्षा की दृष्टि इन पशुओं की भाँति लड़ने वालों पर डाल कर भीड़ में किसी न किसी तरह मार्ग बना कर वे बाहर निकले।

"साम्राज्य के दूसरे बड़े नगर में मानवता की छीछालेदर"

समाचार बेचने वाले लड़के के स्वर से वे चौंके। उन्हों ने एक समाचार-पत्र ख़रीदा। पहले ही पृष्ट पर मोटी सुर्ख़ी से लिखा था।

बङ्गाल में दुर्भिक्ष का आतंक

कलकत्ता की सड़कों पर लोग भेड़ बकरियों की तरह मर रहे हैं

शिव प्रसाद एक ही दृष्टि में सारे का सारा समाचार पढ़ गये। समाचार के साथ पत्र में दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों के अत्यन्त करुणाजनक चित्र भी थे। शिव प्रसाद का समस्त शरीर कांप उठा। उस समय वे नया बाज़ार से गुज़र रहे थे। दोनों ओर आढ़तियों की दुकानें अनाज की बोरियों से लदी पड़ी थीं। बाज़ार में छकड़ों, गाड़ियों, शकरमों के मारे गुज़रना महाल था। कुछ ही दिन पहले उन्हों ने पढ़ा था कि इस साल फ़सल बड़ी अच्छी हुई है, किन्तु इतना अनाज होने पर भी पड़ोस के प्रान्त में लोग भूखों मर रहे हैं। इन छतों तक लदे हुए अनाज के बोरों की ओर देखते देखते उन के सामने रामभज दत्त के बरामदे में छत तक लगी हुई बोरियाँ घूम गयीं और फिर ऐसे सहस्रों घर जिन में छः छः महीने, साल साल भर के लिए अनाज ख़रीद कर जमा किया गया था—सहस्रों घरों में आवश्यकता से कहीं अधिक अनाज भरा पड़ा है और लाखों वर भूख

और अकाल को अपने आँगन में पाल रहे हैं—और वे स्वयं यही बात करने जा रहे थे—आत्म-ग्लानि से उन का हृदय भर आया।

सन्ध्या को जब वे घर पहुँचे और श्रीमती कंचन माला ने पूछा कि वे अनाज का प्रबन्ध कर आये हैं कि नहीं तो वे चुप रहे, किन्तु जब रधिया ने उन को अपना वादा याद दिलाया तो उन्हों ने कह दिया कि चाहे जैसे हो वे हर महीने अनाज का प्रबन्ध कर देंगे किन्तु इकट्ठा करके रखने में, कम से कम वे किसी प्रकार की सहायता न देंगे।

श्रीमती कंचन माला ने यह सुना।तो क्रोध की एक हुंकार भर कर वे रसोई-घर में अपने काम पर जा लगीं। दूसरे दिन जब प्रो० साहब कालेज से आये तो उन्हों ने देखा—बरामदे को छत तक अनाज की बोरियाँ लगीं हुईं हैं—श्रीमती कंचनमाला उन के जाने के बाद अपने पिता के घर गयी थीं और उन के आने से पहले पहले उन्हों ने साल भर का अनाज ख़रीद कर भर लिया था।

एक अवश क्रोध से शिव प्रसाद काँप कर रह गये। क्रोध उन्हें केवल कंचन माला ही पर नहीं, वरन् अपने आप पर भी आया। क्योंकि उस ढेर को देखकर कहीं उन के अंतर मन में संतोष की एक सांस उभर कर उन के ओठों तक आ गयी थी। उन का मस्तिष्क उस स्वार्थ पर क्रुद्ध था। अंतर-द्वंद्व के मारे उन के लिये घर में बैठना दुष्कर हो गया।

वे उठे और मकान के पिछली ओर वाटिका में जा बैठे। बैठे रहे और कुढ़ते रहे—उन के घर में अनाज छत तक लगा हुआ है और उन के आस-पास सहस्रों लोग भूखे मर रहे हैं—यदि ये सब मिल कर उन का उल्ला छीन लें.....और क्षण भर के लिए उन के सामने उस युद्ध का दृश्य घूम गया। फिर धीरे धीरे वह युद्ध एक महा-क्रान्ति में

बदलता गया—सब कुछ जैसे उन के सामने स्पष्ट हो गया। अपने प्रश्नों का जैसे उन्हें उत्तर मिल गया—यह युद्ध उस समय तक जारी रहेगा, जब तक संसार के प्रत्येक राष्ट्र, संसार की प्रत्येक जाति, प्रत्येक मानव को जीने, खाने-पीने और उन्नति करने का समानाधिकार नहीं मिलता।

शिव प्रसाद उठे—सामने क्षितिज पर फिर बादल घिर आये थे। तेज़ हवा चलने लगी थी, देखते देखते सारा आकाश तिमिराछन्न हो गया। शिव प्रसाद ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा—यह तिमिर और ज्योति का युद्ध! न जाने कब तक यह अन्धकार प्रकाश को आच्छन्न किये रहेगा—वे चुपचाप अँधेरे ही में टहलने लगे। टहलते रहे और सोचते रहे। धीरे धीरे घटा गुज़र गयी। चाँद फिर चमकने लगा और विशाल नीला आकाश जैसे उस की ज्योत्सना से धुल-निखर कर जगमगा उठा। वाटिका की दीवार के सहारे खड़े खड़े शिव प्रसाद अनिमेष दृगों से उस ज्योति-पुंज की ओर देखने लगे जो इस घटा के गुज़र जाने के बाद और भी पावन, और भी पवित्र, और भी ज्योतिर्मय दिखायी दे रहा था। शिव प्रसाद ने अनुभव किया जैसे धीरे धीरे उस की ज्योत्स्ना उन के हृदय में भी प्रवेश कर रही है और उन के हृदय की अँधेरी गुफा इस पवित्र-ज्योत्स्ना से जगमगा उठी है।

कैप्टन रशीद

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी, अपनी इस नयी स्कीम में उसे क्यों नहीं ले लेते।"

कैप्टन रशीद अपनी ट्यूनक के बटन बन्द करते हुए अपने स्वभावानुसार कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उन का मस्तिष्क अपने अख़बार की कायापलट करने में निमग्न था। कल्पना ही कल्पना में उन्हों ने नये, योग्य और अनुभवी सम्पादक चुन लिये थे। प्रेस को नया टाइप ढालने और हैड आफ़िस को बेहतर काग़ज़ सप्लाई करने पर विवश कर दिया था। अख़बार सुन्दर टाइप में, सुन्दर कागज़ पर, छपने लगा था। उस में चित्रों के पृष्ठ बढ़ गये थे। उस के सम्पादन में अब अकाश-पाताल का अन्तर आ गया था और सैनिकों के लिए वह पहले से कहीं अधिक उपयोगी हो गया था। तन्द्रावस्था में कानों के पर्दों से टकराने वाली अस्पष्ट ध्वनियों की भाँति उन की पत्नी के ये शब्द उन

के कान में पड़े। उन की भवें तन गयीं और कुछ मुड़ कर आश्चर्य-मिश्रित-क्रोध से उन्हों ने अपनी पत्नी की ओर देखा।

वह बिस्तर पर बैठी चाय बना रही थी। कैप्टन रशीद सुबह नौ बजे के बदले सदैव पौने नौ बजे दफ्तर पहुँच जाना चाहते थे। अफ़सर थे और उन का ख्याल था कि अफ़सरों को क्लर्कों से पन्द्रह मिनट पहले अपनी सीट पर होना चाहिए। वे सवा आठ बजे तैयार हो जाते। उन्हें अलार्म लगा कर सुबह उठना पड़ता और उन की बेगम सोने के कमरे ही में चाय लाने का आर्डर दे देतीं।—प्याले में चीनी डालते हुए बेगम के ओठों पर शिशिर की संकोचशील अरुणाभा की सी मुस्कान फैली और मुख पर प्रार्थना-जनित लाली दौड़ गयी। कनखियों से अपने पति की ओर देखते हुए, प्याले को चमच से हिलाते हिलाते, उस ने फिर वही प्रार्थना दोहरानी शुरू की।

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी........."

"तुम तो बेवकूफ हो!" कैप्टन रशीद ने असंतोष से कहा, भवें सिकोड़ीं, मुंह बिगाड़ा, चाय का प्याला उठाया और फिर कमरे में चक्कर लगाने लगे।

उन की बेगम चुपचाप उन्हें प्याला उठाये दीवार की ओर जाते देखती रही। उस की दृष्टि अपने इस कप्तान पति के गंजे होते हुए सिर, सिर के पिछले, जरूरत से ज्यादा, उभरे हुए भाग, पतली सी गर्दन और ढालुवें कंधों से पीठ और सिकुड़े हुए कूल्हों पर फिसलती हुई उस के पावों पर आ टिकी। उस ने देखा—उस के पति की चाल में भारी अन्तर आ गया है। उसी दिन क्यों, जब से कैप्टन रशीद इस नये पद पर नियुक्त हुए थे, बेगम रशीद ने इस अन्तर को देखा था। उन की पतली सी गर्दन अब इस प्रकार अकड़ी रहती थी मानो उस का पट्टा

चढ़ गया हो। चलते समय वे प्रायः अपनी एड़ियाँ उठा लेते थे और दीवार के पास पहुँच कर जब मुड़ते थे तो एक विचित्र गर्व और महत्व की अनुभूति से पंजों पर लट्टू की भाँति घूम जाते थे।

कैप्टन रशीद की चाल ही नहीं, उन के स्वभाव तक में अन्तर आ गया था। उन की दृष्टि जो पहले एक विचित्र-विवशता से पीड़ित, आकुल, उदास, और झुकी झुकी सी रहती थी, अब कुछ ऐसी तीव्र हो गयी थी मानो अपने समक्ष किसी को कुछ समझता ही न हो। बात चीत करते समय प्रायः दूसरे को मूर्ख समझ कर वे एक विचित्र-व्यंग से मुस्करा देते थे या अत्यन्त उपेक्षा से ओठ सिकोड़ लेते थे।

कुछ क्षण बेगम रशीद अपने पति को प्याले से चुस्की लेते और घूमते देखती रही। अपनी ख़ाला के दामाद और अपनी सहेलियों सी बहन के पति को अपनी नयी स्कीम में लेने की प्रार्थना पर उस के पति ने बे-माँगे जो उपाधि उसे दे दी थी, उस पर उसे क्रोध नहीं आया। कैप्टन रशीद ने पहले पहल जब वर्दी पहनी थी तो उस के दोनों जेठ उन्हें देख कर हँसा करते। बड़े जेठ एक विचित्र व्यंगमयी मुस्कान से कहा करते "भाई, कैसे कैसे जवां-मर्द फ़ौज में भर्ती हो रहे हैं आज कल !" और छोटे उन्हें देखते ही यह शेर गुनगुनाना शुरू कर देते।

तस्वीर मेरी देख कर कहने लगा वह शोख़,
यह कारटून अच्छा है अख़बार के लिए।

और जेठानियाँ यह सुन कर हँसी को रोकने के लिए मुँह में दुपट्टे ठोंस लेतीं और वह स्वयं लज्जा के मारे सिर झुका लेती। यही कारण था कि अब अपने पति की सफलता, उस की तनी हुई गर्दन, उसका भ्रू-भंग और उस की तिनक-मिज़ाजी देख कर उसे एक प्रकार का संतोष ही होता। उसे भली-भाँति ज्ञात था कि अब उस का छोटा जेठ अपना

ख़ाला=मौसी

शेर भूल गया है और बड़े जेठ को भी अपने इस तिनके से भाई की सफलता को देख कर शर्म आने लगा है—आख़िर उस के पति ने अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया था! उस ने जो कहा था, कर दिखाया था। अपने ख़ानबहादुर पिता की सिफ़ारिश के बिना, केवल अपने परिश्रम, योग्यता और दयानतदारी के बल पर कैप्टन बना और इस नये पद के लिये चुना गया, उस के कानों में अपने पति के वे शब्द गूँज जाते जो उस ने अपनी नियुक्ति के समय कहे थे—"मैं ही पहला हिन्दुस्तानी हूँ जिसे इस आसामी के लिये चुना गया है, नहीं आधी सदी हो गयी इस अख़बार को निकलते हुए, कभी कोई हिन्दुस्तानी इस का एडीटर नहीं बना।

उन की बेगम ने गर्व से अपने पति की ओर देखा कैप्टन रशीद ने प्याला ख़त्म करके तिपाई पर रख दिया था और बिस्कुट दान्तों में लिए घूमने लगे थे। प्याले की बची हुई चाय ख़ाली प्लेट में उँडेलते हुए, बेगम रशीद ने फिर घुमा फिरा कर हनीफ़ की बात चलायी।

"आपा* शमीम चाहे हमारी ज़रा दूर की रिश्तेदार होती हैं," उस ने कहा, "पर आप जानते हैं, मैं उन्हें कितना मानती हूँ। हम दोनों में बहनों से ज्यादा मुहब्बत रही है।"

वह क्षण भर के लिए रुकी। कैप्टन रशीद पूर्ववत घूमते रहे। बेगम ने फिर कहा—

"ख़ाला शमीम के बारे में परेशान हैं। चार बरस उन की शादी को हो गये। घर में दो दो बच्चे हैं लेकिन भाई हनीफ़ को अभी तक कोई अच्छी नौकरी ही नहीं मिली।

वह फिर निमिष भर के लिए रुकी। उस ने दूसरे प्याले में चाय डाली। कैप्टन रशीद निरन्तर घूमते रहे। उन की भवें तन गयीं, जिस

* बहन।

से उन के मस्तक पर नाक की सीध में एक आड़ी लकीर बन गयी, चलते समय पैरों पर उन के शरीर का बोझ बढ़ने लगा। बेगम ने अपनी बात जारी रखी—

"इस मँहगाई के ज़माने में साठ रुपये से तो एक आदमी की रोटी भी नहीं चलती," उस ने लम्बी साँस भरी, "फिर आपा शमीम के दो दो बच्चे, सास और ससुर हैं।"

वह प्याले में चीनी हिलाने लगी। कैप्टन रशीद ने अब भी उत्तर न दिया। उन के ओंठ बिगड़ने लगे और दृष्टि में उपेक्षा की लकीर और भी स्पष्ट हो चली, किन्तु एक तो उन का मुख अपनी बेगम की ओर न था, दूसरे वह चीनी हिलाने में निमग्न थी। इस लिए उस की बात का जो प्रभाव उस के पति की आकृति पर हो रहा था, उस की ओर ध्यान दिये बिना प्याले में चमच हिलाते हिलाते बेगम अपनी बात कहती रही—

"जिन को अंग्रेज़ी की ए० बी० सी० तक नहीं आती वे तो आज कल दो दो सौ रुपया पा रहे हैं। हनीफ़ भाई तो ब० ए० आनर्स हैं, लेकिन वे लोग ग़रीब हैं और सिफ़ारिश उन की.........."

अब कैप्टन रशीद के लिए अपने आप को रोकना कठिन हो गया—"ओ बेवकूफ़ औरत!" उन्हों ने दिल ही दिल में तिलमिलाते हुए कहा, "क्या मैं ने किसी की सिफ़ारिश से यह नौकरी हासिल की है? मेहनत, लयाक़त और दयानतदारी—दुनिया में यही कामयाबी की कुंजी है। मैं ने यह स्कीम हनीफ़ जैसे मूर्ख, निकम्मे, कमचोर और नाकाबिल आदमियों के लिये नहीं बनायी। मुझे तजरुबेकार, मेहनती और ख़ुद Initiative लेने वाले जरनेलिस्ट चाहिएँ!"—लेकिन अपने हमज़ुल्फ़ऽ की शान में प्रकट उन्हों ने कुछ नहीं कहा। उपेक्षा-

ऽ साली का पति।

मिश्रित दया से भरी एक दृष्टि उन्हों ने अपनी इस वज्र मूर्ख पत्नी पर डाली। घड़ी में समय देखा। आठ हो गये थे। "मुझे जरनेलिस्टों की ज़रूरत है क्लर्कों की नहीं!" सिर्फ़ इतना कह कर दूसरा प्याला पिये बिना वे बाहर निकल गये।

उन की पत्नी निराशा से वहीं की वहीं बैठी रही। यद्यपि चीनी कब की हल हो गयी थी, पर वह विफल उस में चमचा हिलाती रही।

कैप्टन रशीद अपने मिलिट्री कान्ट्रेक्टर (ख़ान बहादुर) बाप के तीसरे और सब से छोटे पुत्र थे। अपने दोनों भाइयों की अपेक्षा वे कृश-काय थे, किन्तु उन का मस्तिष्क अपने भाइयों के मुकाबिले में बड़ी तेजी से काम करता था। खेल कूद में पिछड़ जाने पर भी वे इन दोनों "बैलों" को (उपेक्षा से दिल ही दिल में वे उन्हें हराम का माल खा खाकर पले हुए बैल कहा करते थे) कहीं पीछे छोड़ देने के स्वप्न देखा करते थे। यही कारण था कि जब उन के दोनों भाई उचित या अनुचित ढंग से कमायी हुई अपने पिता की सम्पत्ति को उचित या अनुचित ढंग से ठिकाने लगाने में निमग्न थे, कैप्टन रशीद जी जान से शिक्षा-प्राप्ति में रत थे। कालेज की शिक्षा समाप्त करके उन्हों ने पत्र-कार-कला की शिक्षा ली थी और अभी मुश्किल से उन्हों ने जरनलिज्म का कोर्स पूरा किया था कि उन्हें कमीशन मिल गया। यद्यपि इस पद के लिए उन के निर्वाचन की तह में खान बहादुर का रुसूख ही काम करता था, पर कैप्टन रशीद इस का कारण अपनी योग्यता ही समझते थे और उन्हें इस बात का संतोष था कि वे पूर्णतयः इस पद के योग्य हैं।

यह साप्ताहिक पत्र, जिस के सम्पादक बन कर वे आये थे, उन

अनगिनत सैनिक पत्र-पत्रिकाओं की भाँति न था जो द्वितीय महा युद्ध में बरसाती कुकरमुत्ता की भाँति उग आये थे। चालीस पचास वर्ष पहले अफ़गानिस्तान के कबायली इलाके में लड़ने वाले सैनिकों के हितार्थ इसे स्थापित किया गया था और उस समय जब कैप्टन रशीद ने इस की बागडोर अपने हाथ में सम्हाली, यह छः सात भाषाओं में निकलता था।

साधारण समाचार-पत्रों तक सैनिकों की पहुँच नहीं होती। घर से सहस्त्रों योजन दूर, जंगलों, पहाड़ों, वीरानों और रेगिस्तानों में उन्हें लड़ना पड़ता है और यद्यपि उस समय भी उन के बेकार समय को खेल तमाशों से भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था, फिर भी किसी ऐसे आर्गन*(Organ) की आवश्यकता अनुभव की गयी जो उन, लगभग अपढ़, सिपाहियों की उन घड़ियों को भर सके जो शारीरिक श्रम, खेल-कूद, गप-शप के बाद उन पर भारी बन जाती हैं; जब उन्हें घर की, बाल-बच्चों को (बाल-बच्चों से प्रिय खेत-खलिहानों की) याद सताती है, जब वे अपने ज़िले (और इस प्रकार अपने गाँव) के मौसम तथा फ़सलों की स्थिति, बीवी-बच्चों की खैर-ख़बर, सगे-सम्बन्धियों, मित्र-स्नेहियों के सगाई-विवाह तथा जन्म-मरण के समाचार जानने के लिए आतुर हो उठते हैं। उन की इसी आवश्यकता को किसी हद तक पूरा करने के लिए यह पत्र निकाला गया था। पहले पहल इस की परिधि केवल दो पृष्ठों तक सीमित थी और इसे निकालने के लिए बहुत छोटा स्टाफ़ था।

यद्यपि प्रत्येक युद्ध के बाद इस स्टाफ़ में कुछ ट्रान्सलेटर-क्लर्कों की वृद्धि होती गयी थी और 'व्यवस्थापक-अमला भी बहुत बड़ा हो गया था, परन्तु इस के सम्पादन और व्यवस्था का ढंग वही पचास वर्ष पुराना था।

---

*Organ—मुख-पत्र

पत्र का अधिकांश मसाला सरकार के इन्फ़रमेशन विभाग से सप्लाई होता था। उप-सम्पादक और प्रायः अंग्रेज़ी का टाइपिस्ट ही उस का सम्पादन कर लेता। यह मसाला टाइप हो जाता। एक एक कापी सभी सेक्शनों में बँट जाती और उस का अनुवाद हो जाता। कोई भी ऐसी चीज़ दूसरे ऐडीशनों में न छप सकती जो अँग्रेज़ी में न छपती हो। गप-शप और लतीफे भी पहले अँग्रेज़ी ही में लिखे जाते और फिर अँग्रेज़ी से अनूदित होते। दूसरे संस्करण सैनिकों के लिए होते और अँग्रेज़ी का उन के अफ़सरों के लिए, ताकि वे देख सकें कि पत्र में कोई ऐसी वैसी विद्रोहात्मक अथवा राजनीतिक चीज़ तो नहीं छपती। लेखों और उन के शीर्षकों तक में कोई परिवर्तन न किया जाता।

कैप्टन रशीद ने चार्ज सम्हालते ही इस पत्र को एक जरनलिस्ट की आँखों से देखा। उन की भवें तन गयीं, ओठ बिगड़ गये—अतीव उपेक्षा से पत्र को मेज़ पर पटकते हुए उन्हों ने कहा—"रब्बिश" (Rubbish) और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उन्हों ने समाचार-पत्र की मुर्दा नसों में नये प्राण डालने की स्कीम बना ली।

हैड आफ़िस में उन के अफ़सरों ने शोर मचाया कि फ़ाइनान्स (Finance) वाले इस स्कीम को कैसे स्वीकार करेंगे? आधी शताब्दी से जो पत्र बड़े आराम से चलता आया है, उस में इतने बड़े परिवर्तन पर वे किस प्रकार चुप रहेंगे? इस स्कीम को मान लेना तो पहले अफ़सरों को मूर्ख मान लेने के बराबर होगा...आदि.... आदि.......

लेकिन कैप्टन रशीद इस बहस के लिए पूरे तौर पर तैयार होकर गये थे। उन्हों ने बड़े धैर्य्य के साथ पहले इस पत्र के महत्व का ज़िक्र किया, "यह भारतीय सेना का एक-मात्र आर्गन है," उन्हों ने कहा, "इस के द्वारा न केवल हम सैनिकों को अपनी नीति के अनुसार ढाल

सकते हैं, बल्कि उन को एक बड़ी ज़रूरत को पूरा करते हैं।" फिर उन्हों ने कहा कि आज के भारतीय सैनिक पचास वर्ष पहले के सैनिकों से राजनीतिक तौर पर कहीं अधिक जाग्रत हैं, इस लिए अखबार को और भी दानाई से निकालने की ज़रूरत है।" इस के बाद उन्हों ने इस बात की शिकायत की कि इतने महत्व-पूर्ण अख़बार को इतने अर्से से केवल क्लर्क ही निकालते रहे हैं, जिन्हें जरनलिज्म का—जरनलिज्म दूर रहा—अनुवाद-कला तक का कोई अनुभव नहीं। उन्हों ने उर्दू के संस्करण से अनुवाद के कुछ नमूने दिखाये कि किस प्रकार अनुवादक मक्खी पर मक्खी मार कर पत्र का सत्यानाश कर रहे हैं। फिर उन्हों ने एक सर्वथा नयी युक्ति पेश की, "मैं अँग्रेज़ी का एडीशन देख सकता हूँ" उन्हों ने कहा, "उर्दू का भी देख सकता हूँ, लेकिन हिन्दी, गुरमुखी, तामिल, तेलगू और मराठी का तो नहीं। साठ साठ रुपया पाने वाले क्लर्कों के हाथ में ये एडीशन छोड़ दिये गये हैं। कौन जाने वे इन में क्या छापते हैं, क्या नहीं छापते। हर एडीशन का एडीटर एक ज़िम्मेदार जरनलिस्ट होना चाहिए जो न सिर्फ़ अख़बार के हर मज़मून* पर नज़र रखे, बल्कि इस की एडीटिंग में भी जंग की नयी ज़रूरतों के मुताबिक तब्दीली करता रहे।"

उन की बात मान ली गयी। पत्र के प्रत्येक संस्करण के लिए अढ़ाई अढ़ाई सौ रुपये के वेतन पर एक एक सब-एडीटर और अँग्रेज़ी के लिए एक नया अनुभवी उप-सम्पादक रखने की स्कीम बनी और उसे फ़ाइनान्स डिपार्टमेंट को भेज दिया गया।

फ़ाइनांस डिपार्टमेंट ने पहले पहल केवल चार सेक्शनों के लिए सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दी और कहा कि यदि इस से समाचार-

---

*लेख

पत्र में कोई विशेष अन्तर दिखायी दिया तो शेष दो सेक्शनों के लिए भी सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दे दी जायगी।

सर्दियों के दिन थे और यद्यपि आठ बज चुके थे, किन्तु धूप जैसे इस शीत में जागते हुए डर रही थी और इर्द-गिर्द की कोठियों के वासियों की भाँति कहीं पूरब की सेज पर लिहाफ़ ओढ़े सो रही थी। आकाश की निद्रालस आँखों में अभी रात की मस्ती थी। किन्तु धरती जाग चुकी थी। दोनों ओर की कोठियों में यूकलिप्टस, जामुन, शरीश आम, नीम के बृहद् पेड़ों की अपेक्षाकृत नंगी डालियाँ आकाश की निंदासी आँखों को चूम रही थीं। ठंडी हवा चल रही थी और पेड़ों के पत्ते सड़क और फुट-पाथों पर उड़ रहे थे।

कैप्टन रशीद की आँखें न उस समय आकाश का खुमार देख रही थीं न धरती की मस्ती, वे तो अपने सामने अपने पत्र को चोला बदलते हुए देख रहे थे। उन के समक्ष उनका पत्र साप की भाँति अपनी पुरानी केंचुली उतार कर नयी बदल रहा था। अपने दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले वे अपने मस्तिष्क में उन चार आसामियों के चुनाव हेतु आने वाले प्रार्थियों से इन्टरव्यू कर रहे थे।

आसामियाँ यद्यपि चार ही थीं, किन्तु उन के लिए (युद्ध काल में बेकारों का अभाव होने के बावजूद) अगनित आवेदन-पत्र आये थे। कैप्टन रशीद ने उन में से केवल बीस को इन्टरव्यू के लिए बुलाया था। हर सेक्शन के लिए उन्हों ने पांच-पांच दरख़ास्तें चुन ली थीं। इन प्रार्थियों में से कुछ प्रतिष्ठित-पत्रों में काम करते थे। उन की योग्यता और अनुभव से वे स्वयं परिचित थे। यही कारण था कि चुनाव में उन्हें कठिनाई भी हो रही थी। कल्पना ही कल्पना में कभी इस को कभी उस को चुनते हुए वे दफ्तर पहुँचे।

कैप्टन रशीद

दफ़्तर को झाड़ पोंछ कर चपड़ासी उन की प्रतीक्षा में एक स्टूल पर बैठा था। उन के पहुँचते ही एक दम खड़े होकर उस ने उन्हें फौजी सलाम किया।

कैप्टन रशीद ने उस के सलाम का उत्तर नहीं दिया। अपने विचारों में मग्न वे कुर्सी पर जा बैठे। कुर्सी को छूते ही जैसे वे चौंके और उन्हों ने घंटी पर हाथ मारा—'टन'!

मानो रबड़ के तार से खिंचा हुआ चपड़ासी आ उपस्थित हुआ।

"पंडित जी को सलाम दो", पत्र का ताज़ा एडीशन उठाते हुए कैप्टन रशीद ने आदेश दिया।

अपने अफ़सर को समय से पहले आते देख कर जो क्लर्क उस से भी पहले आने लगे थे, उन में पंडित किरपा राम सब से आगे थे। पचपन वर्ष की बेफ़िक्री और बेकारी के कारण मोटा थल-थल पिल-पिल शरीर, गँजा सिर, मुँह अगले दाँतों से वंचित—इस पत्र के दफ्तर में वे एक नवयुवक क्लर्क के रूप में आये थे और समय समय पर हिन्दी, उर्दू, गुरमुखी तीनों सेक्शनों के ट्रांसलेटर और फिर इंचार्ज रह चुके थे। अनुवाद कला में उन्हें योग्यता प्राप्त हो, यह बात न थी। योग्यता प्राप्त होना तो दूर रहा, वे तो इस कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे, किन्तु उन्हें उस कला में पूरी पूरी निपुणता प्राप्त थी जो प्रायः सरकारी दफ्तरों में एक क्लर्क को दूसरों से आगे निकल जाने में सहायता देती है। अनुवाद तो उन के दूसरे मंद-भाग्य साथी करते थे। उन का काम तो साहब के लिये टेक्सी, राशन, पेट्रौल, मुर्गे-मुर्गियों से लेकर साहब की मेम के लिए पाऊडर, रूज, क्रीम और ऐसी ही अनगिनत दूसरी चीजें जुटाना होता। सुबह आते समय और संध्या को जाते समय वे नियमित रूप से साहब को सलाम करते। जब साहब हेड आफ़िस जाते तो वे प्रायः उन की अर्दल में जाते, नहीं तो कम से कम कार तक

छोड़ने ज़रूर जाते और जब साहब वापस आते तो वे उन्हें कार से लेने अथवा हैड आफ़िस का हाल चाल जानने अवश्य पहुँचते। साहब की मुस्कान पर खींसे निपोर देना और परेशानी पर भवें चढ़ा लेना उन्हें ख़ूब आता था। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत वे धीरे-धीरे उन्नति पाते हुए सेक्शन के इंचार्ज हो गये थे। इस से पहले कि चपड़ासी उन्हें साहब का सलाम देने जाता, वे दाँत निकोसते हुए स्वयं साहब को सलाम करने आ पहुँचे।

साहब ने उन के सलाम का उत्तर ज़रा सा सिर हिला कर दिया। मुस्कान का उत्तर देना शायद उस ने उचित नहीं समझा।

इस नये देसी साहब के मनोविज्ञान को समझने में सर्वथा असफल रहने के कारण पंडित जी केवल खिन्नता से हँस कर खड़े रह गये।

"आज कितने लोग इंटर-व्यू के लिये आ रहे हैं?"

पंडित जी फ़ाइल लेने भागे।

कैप्टन रशीद ने अख़बार का ताज़ा एडीशन उठाया। पहले पृष्ठ पर ही टाइप की इतनी ग़लतियाँ थीं कि उन का ख़ून खौल उठा। यह देख वे प्रेस के मालिक को फोन करने ही वाले थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

"हैलो!" चोंगा उठाते हुए उन्हों ने कुछ असंतोष के स्वर में कहा।

दूसरी ओर उन के पिता थे।

"छद्दू", उन के स्वर को पहचान कर ख़ान बहादुर बोले, "तुम से शायद तुम्हारी अम्मा ने कहा होगा, बेटा ज़रा हनीफ़ का ख्याल रखना। कल वह मेरे पास आया था। वह अपना रिश्तेदार भी है और फिर........"

"लेकिन अब्बा जान, आप क्या कहते हैं?" कैप्टन रशीद ने अपने

पिता की बात काट कर कहा, "हनीफ़ तो इस पोस्ट के बिल्कुल नाक़ाबिल है।"

"नाक़ाबिल", दूसरी ओर से ख़ान बहादुर बोले, "बी० ए० आनर्स है।"

"बी० ए० आनर्स होने से कोई जरनलिस्ट तो नहीं बन जाता अब्बा जान! मुझे तजरुबेकार जरनलिस्टों की ज़रूरत है जो अख़बार की कायापलट दें। हनीफ़ को तो जरनलिज़्म की ए० बी० सी० का भी इल्म नहीं।"

"अरे भई सीख लेगा। कौन सी चीज़ है जो मेहनती आदमी···"

अपने पिता के हठ पर कैप्टन रशीद की भृकुटी तन गयी। पर बड़ी कठिनाई से अपने आप पर संयम रख, पिता की बात काटते हुए उन्हों ने कहा, "यह अख़बार का दफ़्तर है अब्बा जान, जरनलिज़्म का स्कूल नहीं। मैं नाक़ाबिल एडीटर ले लूंगा तो अफ़सर क्या कहेंगे! हनीफ़ दूसरों के साथ किस प्रकार अपनी चाल क़ायम रख सकेगा। जिन ट्रांसलेटरों का उसे अफ़सर बनाया जायगा, वे अपने दिल में क्या ख्याल करेंगे, सभी हँसेंगे!"

"सरकार के दफ़्तरों में एक से एक बढ़ कर बेवक़ूफ़ भरे पड़े हैं।" अनुभवी ख़ान बहादुर बोले।

"आप मुझ से बददयानती करने को कहते हैं," कैप्टन रशीद गरजे। उन की आवाज़ इतनी ऊँची उठ गयी कि परले कमरे में क्लर्क दम साध कर बैठ गये।

"तुम तो बेवक़ूफ़ हो!" और यह कह कर उन के पिता ने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया।

ठक से चोंगे को फ़ोन पर रख कर कैप्टन रशीद उठे। इन्टरव्यू में आने वाले प्रार्थियों की फ़ाइल उन के सामने खोल कर पंडित किरपाराम

खड़े मुस्करा रहे थे। कैप्टन रशीद ने अंगारा सी आँखों से उन की ओर देखा और मुस्कान मानों पंडित जी के ओठों पर पीली पड़ गयी।

"तो···तो···मैं···"

"आप जा सकते हैं।"

और यह कह कर ट्यूनिक के दोनों कालरों को दोनों हाथों से पकड़े कैप्टन रशीद कमरे में चक्कर लगाने लगे।

घूमते घूमते उन के सामने प्रेस के मालिक ख़ान बहादुर और अपने ख़ान बहादुर पिता का चित्र खिंच गया और अपने ख़ान बहादुर पिता का सब क्रोध प्रेस के मालिक ख़ान बहादुर पर निकालने के लिए, जो पत्र की निकृष्टतम छपाई करता था, उन्हों ने फिर चोंगा उठाया, लेकिन तभी बाहर मेजर सलीम की मोटर आकर रुकी और दूसरे क्षण मेजर सलीम अपनी अलसाई हुई मुस्कान ओठों पर लिए एक युवक के साथ अन्दर दाख़िल हुए।

कैप्टन रशीद ने चोंगा वहीं रख कर उन्हें फ़ौजी सलाम किया। यद्यपि मेजर सलीम से उन का सम्बन्ध लगभग मित्रों जैसा हो गया था किन्तु कैप्टन रशीद सैनिक डिसिपलन के अनुसार उन्हें अब भी सलाम ही किया करते थे।

मेजर सलीम हँसे। "आप भी रशीद साहिब बस······" और उन्हों ने सलाम का जवाब देने के बदले हाथ बढ़ा दिया। "बैठिए, बैठिए!", उन्हों ने अपनी अलसाई सी मुस्कान से कहा, "इतना तकल्लुफ़ न कीजिए। और इस से पहले कि कैप्टन रशीद अपनी कुर्सी पर बैठते उन्हों ने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—ये हैं मि० ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०! हिन्दी के जाने-माने लेखक और

जरनलिस्ट हैं। उर्दू भी जानते हैं। कई अख़बारों में काम कर चुके हैं और कई किताबें लिख चुके हैं। कुछ दिन हिंदी एडीशन में ये आप की मदद करेंगे।" और मेजर साहब ने घण्टी बजायी और चपड़ासी से पंडित जी को सलाम देने के लिये कहा।

लेकिन पंडित जी तो मोटर देख कर स्वयं ही मेजर साहब को सलाम देने चले आ रहे थे।

"पंडित जी, ये हैं मिस्टर ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०। मेजर साहब बोले। "ये कुछ दिन हिन्दी के काम में मदद देंगे।"

और उन्हों ने श्री भार्गव से पंडित जी के साथ जाने को कहा।

जब दोनों चले गये तो मेजर सलीम बोले, "ये करनल चोपड़ा के आदमी हैं। आप किसी तरह इन्हें Accomodate कीजिये। आदमी लायक हैं, आप को किसी तरह की तकलीफ़ न होगी।"

"ये किस अख़बार में काम करते हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

"अभी तो ये बर्मा से भाग कर आये हैं। यहाँ एक फ़र्म में केनवेसर हैं, लेकिन वहाँ 'बर्मा-समाचार' नाम से एक अख़बार निकाला करते थे।"

"लेकिन ट्रांसलेशन......"

"इन्हों ने दो अँग्रेज़ी किताबों का हिन्दी में तरजुमा* किया है। करनल हरडन ने अँग्रेज़ी में 'पोल्ट्री फ़ार्म' के नाम से जो किताब लिखी है, इस का उल्था इन्हों ने हिन्दी में किया है। आज कल हमारी फ़ौजों के सामने अंडे जुटाने का सवाल बुरी तरह पेश है। यूनिटों को अपने निजी मुर्ग़ी ख़ाने खोलने के लिए कहा जा रहा है। आप करनल हरडन की किताब को अँग्रेज़ी में किस्तों से छापिए। उर्दू और हिन्दी में भार्गव साहब आप को मसाला तैयार कर देंगे।"

---

* अनुवाद

और जैसे एक बड़े बोझ को टाल कर मेजर सलीम कुर्सी पर पीछे को झुक गये और सिगार सुलगाने लगे। एक लम्बा कश खींच कर उन्हों ने इतना और कहा, "यह किताब हमारे जवानों के बड़े काम की है, उन में से ज्यादातर किसान हैं और उन को जंग के बाद मुर्गियाँ पालने का कारबार करना पड़ेगा।"

कैप्टन रशीद चुप रह गये। उन्हों ने एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक के स्टाफ़ में एक अनुभवी पत्रकार को लेने की सोच रखी थी। उन के लिए वहाँ बैठना कठिन हो गया। वे स्वयं सिगरेट पीने के आदी न थे, किन्तु उन्हों ने अफ़सरों और दूसरे विजिटरों की आवभगत के लिए कैवेंडर का एक डिब्बा रख छोड़ा था। कभी-कभार स्वयं भी उन के साथ सुलगा लेते थे। उस समय उन्हें कुछ ऐसी घबराहट हुई कि उन्हों ने उठ कर डिब्बे में से एक सिगरेट निकाला और उसे सुलगा लिया।

कुछ ही कश खींचने से उन का मुँह कड़ुवा हो गया। मेजर सलीम की आँख बचा कर उन्हों ने सिगरेट खिड़की से बाहर फेंक दिया। उन का जी हो रहा था कि दोनों हाथ पतलून की जेब में डाल कमरे में तेज़ तेज़ चक्कर लगायें, लेकिन मेजर की उपस्थित में उन्हें ऐसा करना अच्छा न लगा। वे फिर आकर कुर्सी पर बैठ गये और कुछ संकोच के साथ बोले।

"आप का ख्याल है, ये साहब अख़बार में फिट कर जायेंगे। जरनलिज्म का मामूली तजरुबा† तो हमारे ट्रांसलटरों को भी है। हम तो काबिल जरनलिस्ट चाहते हैं।"

मेजर सलीम ने जैसे उन की बात नहीं सुनी। सिगार के एक दो कश खींच कर उन्हों ने कहा।

"करनल चोपड़ा आप की सिफ़ारिश कर रहे थे।"

---

† साधारण अनुभव

"मेरी !"

"वे कहते थे कि आप को मेजर की रैंक मिलनी चाहिए, क्योंकि आप से पहले इस अख़बार के जितने एडीटर रहे हैं, सभी मेजर थे ।"

कैप्टन रशीद श्री भार्गव के सम्बन्ध में कुछ और पूछने जा रहे थे, कि चुप हो रहे और यह सुसमाचार सुना कर मेजर सलीम उठे और फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद आ गयी हो उन्हों ने कहा, "आज तो मीटिंग है ।"

"मीटिंग ।"

ब्रिगेडियर कल फ्रंट से लौटे हैं, उसी सिलसिले में वह कुछ ज़रूरी बातें डिसकस (Discuss) करना चाहते हैं । चलिए मेरे साथ ही चलिए ।"

"लेकिन इंटरव्यू" ।

"क्या वक्त दिया है इंटरव्यू का आप ने ?"

"ग्यारह से चार तक" ।

"जब तक तो आप बीस बार लौट आयेंगे ।"

विवश होकर कैप्टन रशीद असिस्टेंट एडीटर लैफ्टिनेंट अलीगुल ख़ां के कमरे में गये, "मुझे ज़रूरी तौर पर मीटिंग में जाना पड़ रहा है । इंटरव्यू के लिए जो साहब आयँ उन्हें बैठाइए । उन से बात चीत कीजिए । मैं जल्दी आने की कोशिश करूँगा ।

यह कह कर वे कार में मेजर साहब की बग़ल में जा बैठे ।

शाम के साढ़े पाँच बजे उन की कार हैड आफिस से वापस आयी तो उन के साथ एक सिख सूबेदार साहब भी उतरे ।

फ्रंट से आने के बाद ब्रिगेडियर साहब जो ज़रूरी बात उन को बताना चाहते थे, वह यह थी कि पत्र में बहुत से टेकनिकल शब्दों का

प्रयोग ग़लत होता है। उन का अनुवाद भी ग़लत होता है। बर्मा के मोर्चे पर जिस शब्द के लिये अनुवादक 'ख़न्दक' का प्रयोग करते हैं, उस के स्थान पर "गन की चौकी" होना चाहिये, क्योंकि वहाँ खन्दक नाम की चीज़ नहीं। "फ़ौक्स हाल" की जगह एक स्थल पर "लूमड़ी की गुफा" अनुवाद हुआ है, हालांकि यह सैनिकों ही की गुफा होती है। ऐसी बीसियों मिसालें अख़बारों में थीं। ब्रिगेडियर साहब ऐसे ग़लत अनुवाद पर बहुत लाल पीले हुए और उन्हों ने कहा कि अख़बार के स्टाफ़ में कोई ऐसा फ़ौज़ी अफ़सर अवश्य होना चाहिये, जिसे फ्रंट का पूरा अनुभव हो। ब्रिगेडियर साहब की इस बात का सब अफ़सरों ने समर्थन किया और कहा कि वे तो स्वयं यही बात कहना चाहते थे और करनल चोपड़ा ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि नयी स्कीम के अधीन एक फ़ौज़ी अफ़सर अख़बार में ले लिया जाय।

मीटिंग के बाद जब ब्रिगेडियर साहब ने कैप्टन रशीद को अपने कमरे में बुलाया तो उन्हों ने उन का परिचय एक सिख सूबेदार साहब से कराया, "अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौज़ी अफ़सर का होना ज़रूरी है।" उन्हों ने कहा, "सूबेदार पुराने अफ़सर हैं, जंगी शब्दों से पूरी तरह परिचित हैं, इन्हें गुरमुखी का चार्ज दीजिए।"

और उन्हों ने सूबेदार साहब को कैप्टन रशीद के साथ जाने की आज्ञा दी। एक फ़ौज़ी सलाम ठोंक कर सूबेदार साहब कैप्टन रशीद के साथ हो लिए।

"बादशाहो मैनूं तो जरनलिज्म-वरनलिज्म दा कोई तजरबा नेईं" कार में सूबेदार साहब कैप्टन रशीद की बग़ल में बैठे बता रहे थे, "मैं ब्रिगेडियर साब नाल बहुत पहले कम्म करदा रिहां हां, ते ओ मेरे ते बड़े मेहरबान ने। मैं उन्हां नूं किहा सी कि साब मैनूं कोई होर नौकरी दे दे। मैं कदी अख़बारां दी शक्ल तक नईं डिट्ठी कम्म करना तां दूर

रिश्रा, लेकिन ब्रिगेडियर साब ने किहा, 'वैल सूबेदार तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नेई। मैं एडीटर नूं आख दियांगा, ओह तैनूं सिखा देवे। मैं चाहनां हाँ कि मिलिट्री दा इक आदमी अख़बार विच ज़रूर होवे, जिस नूं बाकायदा लड़ाई दा तजरबा होवे।''†

''आप किस फ्रंट पर हो आये हैं?'' कैप्टन रशीद ने पूछा।

और भोले भाले सूबेदार साहब ने बताया

''बादशाहो कुत्ते दी मौत मरना होंदा ते एथे आवन दी की लोड़ सी। मैं बदकिस्मती नाल इंजिनीयर कोर विच भरती हो गया सी, ते तजरबा मैनूं कक्ख ना होया सी। साडी कोर कुछ दिनां तक बर्मा फ्रन्ट जान वाली ऐ। मैं साब नूं आखिया, 'भई जे मेहरबानी करनी एं ते हुन कर। पिच्छे मेरे बाल अयाने ने ते उन्हां नूं देखन वाला कोई नहीं। जे असा फ्रन्ट नूं टुर गये ते फेर तेरी मेहरबानी किस दिन कम्म आऊ। साब मेरे ते ख़ुश ए। मेरी हालत ते ओनूं तरस आ गिया ते ओस मैनूं एथे घल्ल दित्ता। मैं कम्म सिखन दी पूरी कोशिश करांगा। जे मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तगमे दी सिफ़ारश करेगा।''*

---

† बादशाहो, मुझे जरनलिज्म आदि का कोई अनुभव नहीं। मैं बहुत पहले ब्रिगेडियर साहब के साथ काम करता रहा हूं और वे मुझ पर बड़े कृपालु हैं। मैंने उन से कहा था, कि साहब मुझे कोई दूसरी नौकरी दे दो। मैंने कभी अख़बार की शक्ल तक नहीं देखी, उस में काम करना तो दूर रहा। लेकिन ब्रिगेडियर साहब ने कहा, वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नहीं। मैं एडीटर से कह दूंगा कि वह तुझे सिखा दे। मैं चाहता हूं कि फ़ौज का एक आदमी अख़बार में ज़रूर हो जिस को लड़ाई का बाक़ायदा तजरुबा हो।

* बादशाहो, यदि (फ्रन्ट पर) कुत्ते की मौत मरना होता, तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी। मैं दुर्भाग्य वश इन्जनीयर-कोर में भरती हो गया था। और अनुभव मुझे तृण-मात्र भी न हुआ था। हमारी कोर कुछ ही दिनों में बर्मा फ्रन्ट पर

दफ्तर में जाकर मेज़ पर बैठते ही कैप्टन रशीद ने घण्टी पर हाथ मारा।

"पंडित किरपाराम को सलाम दो" उन्हों ने चपड़ासी को आज्ञा दी।

लेकिन पंडित जी स्वयं साहब को सलाम देने और हैड आफ़िस का हाल चाल पूछने आ रहे थे। मुस्कराते हुए उन्हों ने साहब का हुक्म पूछा।

पिछले तीन महीने में पहली बार कैप्टन रशीद ने पंडित जी की मुस्कान का उत्तर दिया। कुछ हकलाते हुए उन्हों ने कहा, "सूबेदार साहब ब्रिगेडियर के आदमी हैं। ये गुरमुखी के सब-एडीटर होंगे। ब्रिगेडियर साहब चाहते हैं कि अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर होना चाहिए।" (यहाँ उन्हों ने वे सब युक्तियाँ दोहराईं जो ब्रिगेडियर ने मीटिंग में दी थीं) "इस लिए गुरमुखी के ट्रांसलेटरों से कह दें कि वे इन को मदद करें और कोई तकलीफ न दें।"

"अजी आप चिन्ता न करें सब ठीक हो जायगा।" पंडित जी ने आत्म-विश्वास से हँसते हुए कहा, "जब तक मैं हूँ, किसी अफ़सर को कोई कष्ट नहीं हो सकता। जिस तरह आप चाहते हैं, वैसा ही होगा।"

और जब वे सूबेदार साहब को साथ लिए हुए कैप्टन रशीद के

जाने वाली है। मैंने साहब से कहा कि यदि कृपा करनी हो तो अब कर। मेरे छोटे-छोटे बच्चे है और मेरे सिवा उन्हें देखने वाला कोई नहीं। यदि हम फ्रन्ट को ही चले गये तो तुम्हारी कृपा किस दिन काम आयगी। साहब मुझ पर प्रसन्न है। मेरी स्थिति पर उसे तरस ही आया और उस ने मुझे आप के साथ भेज दिया। मैं काम सीखने की पूर्ण कोशिश करूँगा यदि मैं यहाँ सफल हो गया तो साहब ने मुझे वचन दिया है, कि वह मेरे लिए पदक की सिफ़ारिश करेगा।

कमरे से बाहर निकले तो उन के ओठों पर मुस्कराहट और भी फैल गयी।

उन के बाहर जाते ही कैप्टन रशीद ने फिर घंटी पर हाथ मारा।

"लेफ्टिनेंट अली को सलाम दो।"

लेफ्टिनेंट के आने पर उन्हों ने पूछा, "मेरा पैग़ाम मिल गया था।"

"जी"

"इन्टर-व्यू ले लिया।"

"हिन्दी और गुरमुखी के उम्मीदवारों का इन्टर-व्यू हो गया है। बाक़ी को आप के टेलीफ़ोन के मुताबिक कल आने के लिए कह दिया है।"

"आप उन्हें भी निबटा देते। उम्मीदवारों का चुनाव तो लगभग हो गया है।"

अँग्रेज़ी के लिए कौन आ रहा है?"

"डायरेक्टर-जनरल का कोई आदमी है। ब्रिगेडियर कह रहे थे, डायरेक्टर अँग्रेज़ी का असिसटेंट बहुत लायक चाहते हैं, क्योंकि उसी से बाकी सब एडीशनों का पेट भरता है। शायद कोई आदमी हैड आफ़िस से आये।"

"और उर्दू"

"उस के लिए भी चुनाव हो गया समझिए।"

यह कह कर उन्हो ने फ़ाइल उठायी और काम में लग गये। लेफ्टिनेंट अलीगुल ख़ाँ अपने कमरे में चले गए।

कैप्टन रशीद ने फ़ाइल अपने सामने रख तो ली लेकिन हस्ताक्षर वे एक काग़ज़ पर भी न कर सके। फ़ाइल को एक ओर हटा कर और ट्यूनिक के कालरों को दोनों हाथों से पकड़े वे कमरे में घूमने लगे।

दो धारा

सात बज चुके थे। चपड़ासी ने झिझकते हुए भीतर कमरे में झांक कर देखा—कैप्टन रशीद उसी तरह ट्यूनिक के कालरों को थामे सर झुकाये कमरे में चक्कर लगा रहे थे।

दूसरी सुबह जब पंडित किरपाराम साहब को सलाम देने पहुँचे तो उन्हों ने कैप्टन रशीद के बराबर की कुर्सी पर एक नवयुवक को बैठे देखा—"यह मिस्टर हनीफ़ बी० ए आनर्स हैं," उस का परिचय कराते हुए उन्हों ने पण्डित जी से कहा, "ये उर्दू सेक्शन का काम सम्हालेंगे।"

पण्डित जी ने खीसें निपोरते हुए मिस्टर हनीफ़ को सलाम किया और उन्हें साथ ले चले।

चलते समय कैप्टन रशीद के ये शब्द उन के कान में पड़े:—

"ज़रा ट्रांसलेटरों से कह दीजिएगा इन्हें काम सीखने में मदद दें।"

बम्बई जून १९४५

फ़्लौं

जून का दूसरा सप्ताह था, जब कविराज ने शिमला जाने की तैयारी की और चेतन से कहा कि वह भी तैयार होकर उन के दवाखाने पहुँच जाये।

चेतन को तैयारी ही कौन सी करनी थी। विवाह में आयी नर्म-गर्म रज़ाई-दुलाई उस के पास थी ही। किसी प्रकार जोड़-तोड़ कर खादी के दो पायजामे और दो कमीज़े उस ने सिलवा लीं। उस के पास कोट का सर्वथा अभाव था, इस लिये उस ने अपने पिता का वही पुराना सरकारी ओवर कोट (जिसे भाई साहब काफ़ी अर्से तक पहन चुके थे) साथ ले लिया। उन दिनों यह नियम था कि तीन वर्ष बाद स्टेशन मास्टर को नया कोट मिल जाता था और पुराना उसी का हो जाता था। यह कोट पिता के पास अपनी अवधि समाप्त कर भाई साहब के पास आ गया था और जब वे तीन चार वर्ष तक उस का सुख ले चुके तो उन्हों ने बड़ी कृपा कर चेतन को दे दिया था। चेतन ने उसे फ़िट

करवा लिया था पर नयी काट के बावजूद वह किसी कबाड़ी की दूकान से खरीदा हुआ दिखायी देता था। इतने पर भी जब चेतन नये धुले कपड़ों पर उसे पहनता तो उस के लम्बे घुँघराले बालों और खुले गले के साथ वह कुछ बुरा न लगता।

चेतन के लिये शिमला जाना विलायत जाने से कम महत्त्व न रखता था। उस का उल्लास अंतर में समा न पाता था। आग उगलते मौसम में तेरह तेरह घन्टे काम करने वाले जूनियर-सम्पादक के लिए, गर्मियों में शिमले के आनन्द की कल्पना, स्वप्न-सुख से कम न थी।

गाड़ी शिमले की ओर जा रही थी। कविराज, उन की पत्नी और उन के बच्चे इंटर में बैठे थे और चेतन, कविराज के क्लर्क जयदेव, नौकर यादराम और उस की पत्नी मन्नी के साथ थर्ड में।

वह इतना प्रसन्न था कि डिब्बे में सोने के लिये यथेष्ट स्थान होने पर भी उसे नींद न आ रही थी। अमृतसर के स्टेशन पर उन के साथ उस के नगर का एक युवक आ बैठा। चेतन को पहचान कर उस ने "नमस्ते" की। चेतन उसे पहचान तो न पाया पर जब उसे ज्ञात हुआ कि वह जालन्धर में उस के मुहल्ले के निकट ही का रहने वाला है तो उस ने बड़े गर्वस्फीत स्वर में उसे बताया कि वह स्वास्थ्य सुधारने के लिये शिमला जा रहा है और उस से यह प्रार्थना भी की कि यदि कष्ट न हो तो उन के घर जाकर वह चेतन की माँ और छोटे भाई नित्यानन्द को उस की कुशल-क्षेम का समाचार अवश्य दे दे। "कहना" चेतन ने उस से कहा, "कि चेतन शिमला जाते हुए गाड़ी में मिला था। वह तीन चार महीने वहाँ रहेगा और स्वास्थ्य ठीक होने पर लौटेगा।"

यह कह कर वह साथी के चेहरे पर ईर्षा-मिश्रित-आदर का भाव

टटोलने लगा।

गाड़ी लगभग रात के एक बजे जालन्धर पहुँची। यादराम अपनी छः फुट लम्बी सुगठित युवा देह लिये नंगी सीट पर ही सो गया था। उस की पत्नी ज़रा सा घूँघट खींच कर बैठी-बैठी ही ऊँघ रही थी, पर चेतन की आँखों में नींद न थी। उस ने खिड़की से सिर निकाल कर अपने चिर-परिचित स्टेशन को देखा। इधर उधर निगाह दौड़ायी कि यदि कोई परिचित टिकट-चेकर नज़र आ जाय तो उसे अपने शिमला जाने का समाचार दे, किन्तु दूर तक देखने पर भी उसे कोई परिचित टिकट-चेकर न मिला।

उनींदी आँखें लिये, बाहर प्लेटफ़ार्म ही पर मेज़ कुर्सियाँ सजाय कुछ बाबू अपने काम में निमग्न थे। उन के लिए जैसे गाड़ियों का आना जाना, मुसाफ़िरों का चढ़ना उतरना, इंजनों की चीखें, गार्डों की सीटियाँ कुछ भी महत्व न रखती थीं। संसार के कोलाहल में रहते हुए भी उस से दूर रहने वाले योगियों की भाँति वे अपनी साधना में रत थे। चेतन ने जैसे दया से प्लावित होकर उन की ओर देखा। उन्हें क्या मालूम कि जब वे इस ऊमस में निचुड़ते हुए कपड़ों के साथ मेज़ों पर झुके हुए हैं, उन के पास ही खड़ी गाड़ी में बैठा वह युवक शिमले की ठंडी हवाओं का आनन्द लूटने जा रहा है।

चेतन के मन में आया कि एक बार उतर कर स्टेशन पर टहले, ज़रा प्लेटफ़ार्म के बाहर जाय, हो सके तो स्टेशन के चिर-परिचित कुएँ का ठंडा पानी ही पिये। पर उसे याद आया कि रात आधी से ज़्यादा जा चुकी है, कुआँ खाली होगा और सबील पर पानी पिलाने वाला कहीं मीठी या कड़वी नींद के मज़े ले रहा होगा।

गाड़ी चल पड़ी। चेतन ने बाहर से दृष्टि हटा ली। यादराम की पत्नी यद्यपि अब भी ऊँघ रही थी पर उस के चेहरे का घूँघट खुला था।

चेतन ने पहले दबी और फिर खुली आँखों से उस के मुख की ओर देखा। लेकिन ऐसा करने से पहले उस ने अपने सामने एक पुस्तक खोल कर रख ली।

शिमला चलने से पहले चेतन ने कविराज को एक तरह से विवश कर दिया था कि उसे साथ ले चलने से पहले वे उसे कोई न कोई काम बता दें। उस के स्वाभिमान को यह स्वीकार न था कि वह उन के सिर पर बोझ बन कर जाय।

उस के मन में स्वयं ही यह बात पैदा हुई अथवा कविराज के जीवन की घटनाएँ सुन कर उसे अपने स्वाभिमान का ख्याल हो आया, इस का ठीक ठीक निश्चय तो नहीं किया जा सकता, पर शिमला ले चलने के प्रस्ताव को सुन कर और यह जान कर कि उसे वहाँ काम अधिक न करना होगा, उस ने कृतज्ञता का भाव प्रकट किया था तो कविराज जी ने बातों बातों में अपने जीवन के आरम्भिक संघर्ष की एक घटना उसे सुनायी थी—"मेरे एक मित्र ने मेरी आर्थिक सहायता की थी" उन्हों ने कहा, "पर उस समय मैं उन के रुपये वापस न दे सकता था, इस लिए मैंने साल भर तक किसी प्रकार की ट्यूशन-फ़ी लिये बिना उन के बच्चों को पढ़ाया।" वे अपनी रौ में इसी प्रकार की कई घटनाएँ सुना गए जब अपने सहायकों से जो कुछ उन्हों ने पाया, उस से कहीं अधिक उन्हें दिया। चेतन यद्यपि पहले भी इस बात पर ज़ोर देता था कि उसे काम बता दिया जाय पर यह सब सुनकर उस ने बिना काम जाने, साथ जाने से इनकार कर दिया था।

तब कविराज ने, जैसे विवश होकर, उसे बताया था कि उन का विचार बच्चों के जन्म-मरण और लालन-पालन के सम्बन्ध में एक

पुस्तक लिखने का है। उन्हों ने उसे अमेरिका की एक पत्रिका भी दिखायी थी और कहा था कि वह पंजाब-पब्लिक-लायब्रेरी में जाकर देख ले। यदि इस विषय पर कुछ पुस्तकें मिल जायँ तो वे तत्काल लायब्रेरी के सदस्य बन जायँगे। चेतन उन की बात समझ गया था और उन की सहृदयता का बदला देने के लिये उस ने मन ही मन इस विषय पर उन्हें एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिख देने का निश्चय भी कर लिया था।

बातों बातों में कविराज जी ने उसे समझा दिया था कि यह पुस्तक उन के नाम से छपेगी। उस में बच्चों की समस्त व्याधियों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान संकलित होगा और पाठकों को परामर्श दिया जायगा कि पेचीदगी हो तो तत्काल किसी प्रसिद्ध वैद्य या डाक्टर से परामर्श लेना चाहिए।

चेतन लायब्रेरी से पाँच पुस्तकें ले आया था। उस ने अपने मन में पुस्तक का एक ढाँचा सा भी बना लिया था। उन्हीं पुस्तकों में से एक उस ने उस समय अपने सामने खोल ली।

यादराम की पत्नी ने भी एक दो बार कनखियों से उस की ओर देखा। चेतन को लगा जैसे उस के ओठों पर हल्की सी मुस्कान भी खेल रही है—ऐसी मुस्कान जिस का पता न लगता था कि ओठों पर है अथवा आँखों में! गेहुँआ रंग, चेहरे पर शीतला के हल्के हल्के दाग़, पतला दुबला शरीर, दाँतों के मोतियों में मिसी की लकीरें। वह सुन्दर न थी, पर उस की आँखों और उस की मुस्कान में कुछ ऐसा आकर्षण था कि चेतन पुस्तक पढ़ना छोड़ कर उसे देखने लगा और फिर उस से बातें करने लगा।

डिब्बे में यात्री बहुत न थे। जो थे भी, वे बेसुध मुँह बाये, सिर लटकाये, बड़ी बड़ी विचित्र मुद्राएँ बनाये, नींद की गोद में जा पड़े थे। सामने की बर्थ के ऊपर, सामान रखने के स्थान पर, सोये हुए एक व्यक्ति की टाँग बेतरह लटक रही थी और चेतन को डर था कि तनिक पहलू बदला और वह नीचे आ रहेगा। उस के लटकते हुए पाँव के नीचे यादराम बेसुध सोया हुआ था। उस के हल्के हल्के खुर्राटे डिब्बे की निस्तब्धता भंग कर रहे थे। बात पहले मन्नी ही ने आरम्भ की।

"नींद नहीं आती बाबू जी" अपनी मुस्कान को तनिक और श्रेय बनाते हुए उस ने पूछा।

चेतन को उस की मुस्कान भली लगी। उस में सहानुभूति थी, सौहार्द था और उत्सुकता थी।

पुस्तक पर ही दृष्टि जमाये उस ने फिर कनखियों से मन्नी की ओर देखा। "गाड़ी में मुझे नींद नहीं आया करती", उस ने ज़रा सा हँस कर कहा।

मन्नी आधी लेटी, आधी बैठी थी। वह उठ कर बैठ गयी और उस ने चेतन के घर, माता पिता, भाई बहनों के सम्बन्ध में प्रश्न किये।

उस के प्रश्नों में, उस की वाणी में, उस के नयनों की सालस-लालस मुस्कान में कुछ ऐसी स्निग्धता थी कि चेतन का शरीर गर्माने लगा। रात की उस नीरवता में, उस सोये खोये से डिब्बे में उसे मन्नी बहुत ही प्यारी लगने लगी। बैठे-बैठे चेतन का शरीर अकड़ रहा था और उस ने अपने पैर मन्नी की बर्थ पर थोड़े से पसार लिये।

"खुल कर पसार लीजिए बाबू जी," मन्नी ने बड़े प्यार से उस के पाँव को लगभग खींचते हुए कहा। साथ ही उस ने अपने पाँव चेतन की बर्थ पर फैला दिये।

"बैठे बैठे घुटने अकड़ जाते हैं," वह हँसी।

कुछ क्षण तक चेतन चुपचाप पुस्तक पढ़ता रहा। फिर उस ने कनखियों से मन्नी के पैरों की ओर देखा—छोटे छोटे प्यारे प्यारे पैर—उंगलियों में रजत चुटकियाँ और छल्ले पड़े थे और टख़नों में कड़े तथा झाँझनें। उस के तलवों में जावर रचा था जिस का रंग मिट्टी और कीचड़ से मिल कर काला हो गया था।

"तुम अपने पाँव धोती नहीं, देखो काले से हो रहे हैं।" उस ने पहले उन्हें छूते और फिर उन पर हाथ फेरते हुए कहा।

"रोज़ धोती हूँ बाबू जी, पर सारा दिन घर का काम करना पड़ता है—चौका बर्तन, झाड़ू बुहारी—कहाँ तक साफ़ रह सकते हैं ?" और उस ने अपने हाथ दिखाये, जिन में मेंहदी के लाल रंग पर काली धारियाँ उभर आयी थीं।

चेतन के जी में आया कि इन लाल काले हाथों को चूम ले: पर तभी यादराम ने करवट बदली। चेतन का हाथ फिर पुस्तक पर आ गया और दोनो के पाँव एक दूसरे से ज़रा फ़ासले पर हो गये।

किन्तु इस बार यादराम की पीठ उन की ओर हो गयी। तब मन्नी ने झिझकते झिझकते चेतन के पाँवों को छुआ और बोली, "आप के पैर भी तो काले हैं बाबू जी !"

"मेरे"—चेतन हँसा—"मुझे धोने का अवकाश ही कब मिलता है। घूमता मैं क्या कम हूँ ! और फिर बूटों के नाम मेरे पास यही चप्पल है, ज़रा सा पानी या कीचड़ हो तो लिचलिचाने लगते हैं।"

मन्नी का लहँगा जो उस के टख़नों से ज़रा ऊँचा उठ गया था, दोनों वर्थों के मध्य लटक रहा था और टख़नो के ऊपर का गोरा गोरा हिस्सा नज़र आ रहा था—गोरा गोरा बादाम के से रंग का ! चेतन का जी चाहता था कि पाँव पर हाथ फेरता फेरता ऊपर उन गोरी गोरी बादामी पिंडलियों तक ले जाये; पर इसी समय गाड़ी किसी स्टेशन

पर रुकी। समुद्र के ज्वार में बहती हुई चीजें जैसे पानी के रेले से किनारे पर आ चढ़ती हैं, इसी प्रकार स्टेशन की भीड़ के सागर में से कुछ यात्री डिब्बे में चढ़ आये।

इन के आने, सामान रखने, बैठने या लेटने की व्यवस्था करने और अपनी अनगढ़, अनमंजी, पहाड़ी बोली में निरन्तर बोलते रहने से डिब्बे की निस्तब्धता भंग हो गयी। यादराम पूर्ववत गहरी नींद में सोता रहा। सामने ऊपर की बर्थ पर सोने वाले ने टाँग ऊपर खींच ली और चादर से गर्दन तथा मुँह का पसीना पोंछते हुए परली तरफ़ को करवट ले ली। कुछ ऊँघते ऊँघते गर्दनों के झटके से उठ बैठे; कुछ सोये सोये उठे और एक अलस दृष्टि चारों ओर डाल कर फिर सो गये। एक ने डेढ़ पाव गर्म गर्म दूध पिया; एक लोटा लिये पानी को भागा।

तभी कोने में सोया हुआ एक व्यक्ति हड़बड़ा कर उठा।

"कौन सा स्टेशन?" उस ने भारी स्वर में एक नये यात्री से पूछा।

"अम्बाला"

"अम्बाला!" उस ने मुँह बा दिया। फिर साथ के व्यक्ति को झकझोर डाला। "अरे जल्दी उठो अम्बाला आ गया, गाड़ी चलने वाली है।"

साथी इस तरह उठा जैसे उसे बिजली का झटका लगा हो और जल्दी जल्दी सामान समेट कर दोनों डिब्बे से उतर गये।

चेतन की दृष्टि आगन्तुकों पर जम गयी। अपना सामान आदि सम्हाल कर वे लोग सामने की बर्थ पर डट गये थे। उन में तीन स्त्रियाँ

थीं। पुरुषों के कपड़े उतने अच्छे न थे—टख़नों से ऊँचे, तंग, मैले पायजामे; गबरून की कमीज़ें और उन पर पहाड़ी जाकेट! दोनों के माथों पर उस्तरे से बड़े चौड़े ख़त बने हुए थे, जिन की नोकें उन की गोल गोल टोपियों में छिपी हुई थीं। उन की चोटियाँ चूहों की दुमों की भाँति टोपियों के नीचे, गर्दन के पिछली ओर, लटक रही थीं। स्त्रियों के कपड़े कुछ साफ़ और भड़कीले थे। दो युवा थीं और एक अधेड़। किन्तु तीनों अपनी उम्र से कुछ ज्यादा लगती थीं और संयम-हीनता ने उन के चेहरे पर ऐसी रेखाएँ बना दी थीं जो सस्ते पाउडर और रूज के बावजूद स्पष्ट दिखायी देती थीं।

जब गाड़ी चल पड़ी और सब लोग जम कर बैठ गये तो एक पहाड़ी युवक ने जाकेट की जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली और एक एक सिगरेट सब को बाँट दिया। क्षण भर बाद सब बड़े मज़े से सिगरेट पीने लगे। चेतन चकित सा उन स्त्रियों की ओर देखता रह गया। वे इतने सहज-सरल भाव से सिगरेट पी रहीं थीं कि इस कला में पूर्णतः सिद्धहस्त दिखायी देती थीं। बड़े संतोष से सिगरेट पीती हुई वे मजे मजे धुएँ के नन्हे मरगोले बना रही थीं।

चेतन स्वयं सिगरेट न पीता था। सिगरेट का धुआँ उस के लिए असह्य था। कमरे में या उसके पास बैठा कोई सिगरेट पीता हो तो उस के सिर को चक्कर आने लगते थे। इस पर भी उस के मित्रों में ऐसे युवकों की कमी न थी, जिन्हें सिगरेट का व्यसन था। किन्तु स्त्रियाँ भी सिगरेट पीती हैं, यह उस के लिए सर्वथा नयी बात थी।

डिब्बे में अधिक लोगों के आ जाने से एक प्रकार की घुटन सी पैदा हो गयी थी। गाड़ी पूरी रफ्तार से जा रही थी। खुली खिड़कियों से गर्म हवा के फ़र्राटे आते थे, उस के साथ ही रास्ते की धूल और इंजन का धुआँ। यह धूल और धुआँ यात्रियों के पसीने की गंध से मिल कर

पहले ही कम गला न घोंट रहा था, इस पर ये पाँच व्यक्ति सिगरेट पीने लगे। चेतन का जी घबराने लगा। उस के सिर को हल्का हल्का चक्कर आने लगा। पर वे पहाड़ी स्त्रियाँ अध-लेटी अध-बैठी, टाँगें फैलाये-सिकोड़े, जैसे डिब्बे के सारे वातावरण पर छायी हुई, इस इतमीनान से सिगरेट पी रही थीं कि चेतन के मन में आया, वह भी टाँगें पसार ले, शरीर को पीछे की ओर ढीला छोड़ दे और कहीं से सिगरेट लेकर उन्हीं की भाँति नाक और मुँह से छोटे-छोटे, नन्हे-नन्हे मरगोले छोड़े। पर इस बीच में उस का दम अधिक घुटने लगा, सिर अधिक चकराने लगा और उस ने मुँह खिड़की से बाहर निकाल कर दो लम्बे-लम्बे साँस लिये।

आकाश में यद्यपि चाँद चमक रहा था और बादलों का भी कोई निशान न था, पर धूल का एक पर्दा सा धरती और आकाश के मध्य छाया हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे चाँदनी को धरती तक पहुँचने में कष्ट हो रहा है। सकुची सकुची वह छायी हुई थी। उस की बाहें जैसे कुछ ही दूर तक फैल कर रह जाती थीं। अँधकार को भेदने में जैसे वे अशक्त थीं। इस धूल-धूसरित ज्योत्सना के नीचे दूर तक मटमैली धरती पड़ी थी। वर्षा अभी आरम्भ न हुई थी। मुरझायी भुलसी हरियाली रात की इस मटमैली चाँदनी का अंग बन गयी थी। पेड़ पौधे भागती छायाओं की भाँति, सामनेसे निकल जाते थे। गाड़ी के परले सिरे पर इंजन फिर धुआँ छोड़ने लगा। हल्की चाँदनी में धुएँ का काला बादल लपकते हुए अजगर की भाँति गाड़ी के ऐन ऊपर पीछे की ओर को बढ़ने लगा। उस की जलती आँखों की चिनगारियाँ उस अँधेरे में चमक उठीं। चेतन ने जल्दी से अपना मुँह अन्दर कर लिया।

सब कुछ उसी तरह था। केवल मन्नी अपने पति की जाँघ पर

सिर रख कर सो गयी थी।। मुँह पर उस ने घूँघट कर लिया था और लँहगे को टाँगों से अच्छी तरह लिपटा लिया था। उस के पैरों की अँगुलियों में पड़े हुए छल्ले और चुटकियाँ पूर्ववत चमक रही थीं।

उन चमकती हुई चुटकियों और छल्लों से ऊपर दृष्टि उठा कर चेतन ने फिर उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर देखा। वे उसी प्रकार सिगरेट पी रही थीं। उन की आँखों में चेतन को कुछ ऐसी संकोच-हीनता दिखायी दी जो उस ने कभी जालन्धर के कोतवाली बाज़ार की वारांगनाओं के नयनों में देखी थी। स्कूल से आते समय वह मुहल्ला मेंहद्र्‌ओं से आने के बदले कई बार पुलिस-लाइन को पार कर, सब्ज़ी मंडी के सामने से होता हुआ कोतवाली बाज़ार की ओर से आया करता था और कितनी देर तक खड़ा निर्निमेष उन काली कुरूप स्त्रियों को देखता रहता था जो बड़ी बेबाकी से अपनी कोठड़ियों के आगे पाउडर थोपे बैठी रहतीं और जिन से गाँवों से नगर को आने वाले जाट अत्यन्त अश्लील और भद्दे मज़ाक किया करते थे। इन पहाड़ी स्त्रियों की आँखों में उन्हीं वेश्याओं जैसी बेबाकी थी।

तभी उस की दृष्टि एक दूसरे व्यक्ति पर गयी जो उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर अत्यन्त भूखी निगाहों से देख रहा था। उस की लोलुप-दृष्टि का अनुसरण करते हुए चेतन ने देखा कि उस के आकर्षण का केन्द्र वह स्त्री है जो उन तीनों में युवा और अपेक्षाकृत सुन्दर है। गुलाबी रंग का चूड़ीदार रेशमी पायजामा, चमचमाती कमीज़, उस पर सुन्दर सरदई रंग की जाकेट और सिर पर रेशमी दुपट्टा ओढ़े, वह बिस्तर पर कुहनी रखे, हथेली पर सिर टिकाये, मंगल-द्वीप की तस्वीरी सम्राज्ञी की भाँति लेटी हुई थी। उस के कानों की रजत-बालियाँ और नाक की लौंग उस की तीखी नुकीली आकृति पर बहुत भली लग रही थी। उस गालों परके पाउडर की धूलि भी दूसरों की अपेक्षा कम थी—

कदाचित इसी लिए कि उस के मुख पर लकीरें दूसरों की अपेक्षा कम थीं। और वह व्यक्ति—अधेड़ उम्र, नुकीली खिचड़ी दाढ़ी, नाक के नीचे से कटी हुई शरयी मूँछें, नंगा सिर, खरखरे खिचड़ी बाल, आँखों में तीव्र-भूख तथा वासना की झलक!

जब स्त्रियों ने सिगरेट ख़त्म कर लिये और उन के शेष टुकड़े खिड़कियों के बाहर फेंक दिये तो वह उठ कर उन के पास जा बैठा। जेब से उस ने सिगरेट की डिबिया निकाली, एक सिगरेट स्वयं लिया और डिबिया उन दो पहाड़ी युवकों की ओर बढ़ा दी। उन्हों ने एक एक सिगरेट ले लिया। तब उस ने डिबिया दूसरी दोनों स्त्रियों की ओर बढ़ायी। उन्हों ने भी एक एक सिगरेट ले लिया। अन्त में उस ने ओठों के कोनों को फैलाते और अपने पीले दाँत निकालते, सकुचाते लजाते, डिबिया उस मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी की ओर बढ़ायी। वह ठहरी मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी! उसी शाहाना अन्दाज़ से उस ने सिर हिला दिया—"हम यह नहीं पीते!"

खिसियानी सी हँसी के साथ हाथ पीछे हटाते, दाँतों को कुछ और निपोरते हुए निराशा-मिश्रित स्वर से उस व्यक्ति ने पूछा—"तो...?"

"हम कैवेन्डर पीते हैं।"

"मेरे पास तो लाल बादशाह ही है" और वह खिन्नता से हँसा।

तब उस स्त्री ने उसी राजसी ठाट से अपने साथी को आदेश दिया कि वह कैवेन्डर की डिबिया निकाले।

पहाड़ी युवक ने कैवेन्डर की डिबिया निकाल कर उसे एक सिगरेट दिया। उसी तरह लेटे लेटे, विना हाथ हिलाये उस ने वह, ओठों में थाम लिया और जब उस ने दियासिलाई जलायी तो उसी तरह लेटे लेटे, मुँह ज़रा सा आगे बढ़ा कर, उसे सुलगा भी लिया और उसी प्रकार मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी बनी धुएँ के हल्के हल्के मरगोले छोड़ने लगी।

चेतन ने पुस्तक पढ़ने का प्रयास किया, पर उसे महसूस हो रहा था जैसे उस के सिर पर मनों बोझ लाद दिया गया हो। आँखों में नींद का नाम तक न था, पर उन में कड़ुवाहट आ गयी थी। भवों के ऊपर पीड़ा की एक रेखा दौड़ रही थी और शरीर क्लान्त प्रतीत हो रहा था। सामने की बर्थ पर टाँगें फैला कर वह पीछे को लेट गया और उस की आँखें मात्र-थकन से बन्द हो गयीं।

लेकिन उसे नींद न आयी। पहाड़ी स्त्रियों की बातचीत, उस वासनासक्त व्यक्ति की खिसियानी हँसी और बैकग्राउंड में गाड़ी की खड़खड़ाहट—सब कुछ उसे सुनायी दे रहा था।

वह व्यक्ति मंगल-द्वीप की उस साम्राज्ञी से अत्यन्त भोंडे मज़ाक कर रहा था और उसी मुस्कान-मिश्रित-उपेक्षा से वह उसे टाले जा रही थी। तभी उस ने एक दूसरी आवाज़ सुनी, "अरे पास जा बैठो, वहीं पड़े क्या 'हिंहिं' 'हिहिं' कर रहे हो।"

भारी थकी आँखें खोल कर चेतन ने देखा कि एक और व्यक्ति जाग कर उठ बैठा है और पहले को बढ़ावा दे रहा है। लेकिन उस का साहस नहीं होता कि उस मानिनी के पास जा बैठे।

तभी गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। वह व्यक्ति उठ कर मिठाई ले आया और दोना लिये हुए उस के पास जा बैठा। अपने मैले, पीले दाँत निकालते हुए उस ने एक हाथ से मिठाई का दोना उस की ओर बढ़ाया और दूसरे से उस के दोनों घुटनों को लेकर अपनी बगल में भींचा और उस की आँखों में वासना की ज्वाला लपलपाने लगी।

चेतन की अर्ध-निमीलित आँखें पूरी तरह खुल गयीं।

मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी ने ज़रा सा भवें सिकोड़ कर उस दोने की ओर देखा। फिर घृणा-मिश्रित-उपेक्षा से उस व्यक्ति की ओर। और फिर सहसा बिस्तर पर कुहनी के बल उठते हुए, अपने घुटनों को उस के

बंधन से मुक्त करके उस ने इस ज़ोर से खींच कर लात उस दोने पर दे मारी कि मिठाई उस व्यक्ति के मुँह पर उस की मूर्खता के चिन्ह अंकित करती हुई खिड़की के बाहर जा पड़ी।

"वेश्याएँ हैं!" उस दूसरे व्यक्ति ने कहा, "खा कमा कर फ़र्लो* पर जा रही हैं।" और वह हँसा।

खिन्न सा होकर पहला व्यक्ति चेहरा पोंछता हुआ अपनी जगह पर जा बैठा। उस के नयनों की लपलपाती हुई वासना बुझते हुए अँगारों की भाँति मन्द पड़ गयी।

चेतन ने आँखें बन्द कर लीं।

'फ़र्लो!'—कितना स्निग्ध, प्यारा शब्द है! जिस दिन उसे दफ़्तर से छुट्टी होती थी, बंगाली गली तो दूर, वह गरणपत रोड तक की ओर न जाता था। यदि उसे अनारकली भी जाना होता तो चाहे उसे कितना घूम कर जाना पड़े, वह दफ़्तर को जाने वाली सड़क की ओर मुँह न करता। उन वेश्याओं के प्रति एक विचित्र सहानुभूति से उस का मन प्लावित हो उठा। साल भर के थके, टूटे, शिथिल अंग लेकर, अपने शरीरों को बेच कर, उन्हें भूखे, हिंस्र पशुओं की दया पर छोड़ने के बाद, ये बेचारी क्लान्ति की मारी, कुछ आराम करने जा रही हैं। और यह भूखा व्यक्ति......पाजी....! और एक नपुन्सक सा क्रोध उस के मस्तिष्क में अलाव की भाँति जलने लगा......। लेकिन उस के पलक भारी होते गये, उस के अंग शिथिल पड़ते गये और वह अलाव क्षण प्रति क्षण मंद पड़ता गया। उस का सिर खिड़की के साथ जा लगा, बाजू लटक गये और वह गहरी नींद में सो गया। †

---

*फ़र्लो = (Furlough) छुट्टी। सैनिकों को काफी दिन बाद जो घर जाने की छुट्टी दी जाती है। सेना ही से यह शब्द गावों में आया है।

† लेखक के उपन्यास 'गिरती दीवारें' से

टेबल-लैंड

"आप ज़रा उदार विचारों के हैं, इस लिए मैंने यह पूछा है!" सेठ साहब ने कहा।

"जी, आप निश्चय रखें। यह सब मैं पंजाब के हिन्दू-शरणार्थियों ही को भेजूँगा।" सेठ साहब की आशंका के उत्तर में दीनानाथ बोला।

"एक कम्बल आप के विचार में कितने का आता है?" सेठ साहब ने पूछा।

"यों तो आप ऐसे सेठ को सौ रुपये का भी कम्बल शायद अच्छा न लगे," तनिक उत्साह पाकर दीनानाथ ने कहा, "लेकिन वे लोग तो मुसीबत के मारे हैं। नर्मी की अपेक्षा उन्हें गर्मी की अधिक आवश्यकता है। जब मैं इधर सेनेटोरियम ही में था तो वार्डब्वाय नारायण दस रुपये में कम्बल लाया था, उतना नर्म तो नहीं, पर गर्म खूब था।"

"तो तीन कम्बलों के पैसे आप मेरे नाम लिख लीजिए।"

तीन कम्बलों के—अर्थात् तीस रुपये !—प्रसन्नता से दीनानाथ का चेहरा खिल उठा ।

सब से पहले जब उस ने सेठ हीरामल वीरामल अडवानी की स्पेशल कॉटेज में जाने का निश्चय किया था तो उस का ख्याल था कि वे पाँच रुपये तो कम से कम देंगे ही और लिस्ट में सब से ऊपर पाँच रुपये देख कर दूसरे रोगी भी रुपया आठ आना दे ही देंगे । इस प्रकार वह दो चार कम्बलों के पैसे पंजाब के शरणार्थियों की सहायता के लिए भेज सकेगा । सेनेटोरियम के थोड़े से अनुभव ने उसे बता दिया था कि सैर तमाशा या ह्विस्ट अथवा रम्मी ड्राइव हो तो रोगी खुले दिल से चंदा देते हैं (मेज़ों पर स्त्रियों के साथ बैठ कर खेल सकने का सुअवसर पाने की ग़र्ज़ से) लेकिन यदि किसी भले काम के लिए चंदा देने को कहा जाए तो कुछेक को छोड़ कर शेष सब बहाने बना देते हैं ।

सेठ हीरामल धर्म-परायण, दानी आदमी थे । इसी लिए उस ने लिस्ट में सब से पहले उन का नाम रखा था । वे इतने रुपये दे देंगे, इस बात की उस ने कल्पना भी न की थी । परन्तु जब सेठ साहब ने दस दस के तीन नोट निकाल कर दीनानाथ के हाथ पर रख दिये तो उस ने कापी पर सब से पहले उन का नाम लिखते हुए कहा—"आप से मुझे ऐसी ही आशा थी । इसी लिए तो मैं सब से पहले आप के पास आया ।"

"कहिए, आप के भाई और दूसरे सगे-सम्बन्धी तो पाकिस्तान से आ गये ?" सेठ साहब ने पूछा ।

"घर-बार छोड़ बेसरोसामानी की दशा में दिल्ली पहुँच गये हैं," दीनानाथ ने तनिक उदास होकर कहा—"घर दोनों जल गये और सामान लुट गया । इतना ग़नीमत है कि जानें बच गयीं ।"

"इस टी० बी० ने हमें तो कहीं का न रखा," सेठ हीरामल ने

खाँस कर और बलगम स्पिट्टून में थूक कर कहा—"नहीं तो पचास-सौ मुसलमानों को हम स्वयं अपने हाथ से यम-लोक पहुँचाते।"

यह कहते हुए उन के म्रियमान, पीत, क्षीण मुख पर एक तिक्त मुस्कान फैल गयी और इतनी बात-चीत ही से थक कर वे चारपाई पर लेट गये।

सेठ साहब की यह भयानक आकाँक्षा पिछले कई दिनों से स्वयं दीनानाथ के मन में निरन्तर उठ रही थी। सेठ साहब तो कभी हिन्दू महासभा के प्रधान रहे थे, मुसलमानों को सदा से यवन और असुर समझते थे, पर दीनानाथ तो कभी हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर न मानता था। वह पंजाबी था और पंजाबियों में, जहाँ तक रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और बोल-चाल का सम्बन्ध है, मुसलमान-हिन्दू में कोई विशेष अंतर न था। बम्बई में भी वह स्वतन्त्र रूप से फ़िल्म कम्पनियों में काम करता था और यद्यपि साम्प्रदायिकता के इस ज़माने में फ़िल्म कम्पनियों में भी यह बीमारी फैल गयी थी, पर दीनानाथ के मित्रों में मुसलमानों की संख्या कम न थी। उसे मुसलमान डाइरेक्टरों की फ़िल्मों में निरन्तर काम मिलता था। बीमार होकर जब वह पंचगनी आया और छः महीने सेनेटोरियम में रहा तो यहाँ भी उस की घनिष्टता कासिम भाई के अतिरिक्त कई दूसरे मुसलमानों से हो गयी।

कासिम भाई तो खैर उसी की तरह आर्टिस्ट था, पर दीनानाथ के मित्रों में तो कई दूसरे मुसलमान भी थे। आज वही दीनानाथ इतना कटु हो गया था कि सेठ हीरामल ही की भाँति चाहता था—बस चले तो पंजाब जाय और स्त्रियों तथा बच्चों पर पाशविक अत्याचार तोड़ने वाले मुसलमानों को यथा-शक्ति यम-लोक पहुँचाये। दो महीने पहले कुछ

स्वास्थ्य सुधर जाने और कुछ हाथ 'तंग हो जाने से वह बाहर आकर रहने लगा था। तभी से पंजाब की ख़बरें सुन सुन कर कई बार उस का ख़ून खौल-खौल उठा था और कई बार सपनों में वह कभी तलवार और कभी पिस्तौल लिये आततायी मुसलमानों का संहार करता रहा था।

दीनानाथ के ख़ून में यह खौलाव पिछले दो महीनों ही से पैदा हुआ था, नहीं साम्प्रदायिक दंगे तो साल भर से हो रहे थे। साल भर पहले मुस्लिम लीग के डाइरेक्ट-एक्शन के दिन जो आग कलकत्ता में लगी थी, यद्यपि उस की लपटें बम्बई तक पहुँच गयी थीं, पर दीनानाथ ने कभी इस ओर ध्यान न दिया था। लम्बी बीमारी के प्रति बीमार और तीमारदार जैसे दोनों उदासीन हो जाते हैं, इसी प्रकार दीनानाथ भी साम्प्रदायिकता की इस लम्बी बीमारी के प्रति उदासीन था। फिर वह मलाड में रहता था और मलाड बम्बई के फ़िसादी इलाकों से बीस मील दूर था। इस के अतिरिक्त उधर ध्यान देने के लिए दीनानाथ के पास तनिक भी अवकाश न था। वह स्वतन्त्र-रूप से फ़िल्म कम्पनियों में काम करता था और यद्यपि एक्स्ट्रा की स्टेज को पार कर अभिनेता बन गया था, पर वह कोई प्रसिद्ध अभिनेता न था। एक पार्टी को पाकर दूसरी को ढूँढने और सिनेमा की प्रतिक्षण नीचे से खिसकती हुई धरती को पाँव के नीचे बनाये रखने के प्रयास में उसे इतना समय न मिलता था कि वह इस मूर्खता (दंगे-फ़िसाद को दीनानाथ इसी नाम से पुकारता था) की ओर ध्यान दे। फिर सब से बड़ी बात यह थी कि यह दंगा-फ़िसाद कलकत्ता में हुआ था, नोआखाली में हुआ था, बिहार, बम्बई और पश्चिमीय पंजाब के कुछ नगरों में भी हुआ था, पर उस का जन्म स्थान—उस का लाहौर—इस की लपटों से सर्वथा सुरक्षित था और जहाँ तक दीनानाथ का सम्बन्ध है, उसे हिन्दुस्तान का कोई नगर लाहौर

में अधिक प्रिय न था और न किसी और नगर से उसे दिलचस्पी थी। लाहौर तटस्थ बना हुआ था, इसलिए दीनानाथ भी तटस्थ था।

लेकिन तभी बम्बई के अधिक काम, कम आराम और अस्वास्थ्यकर भोजन के कारण फेफड़ों की बीमारी लेकर वह पंचगनी आ गया और न वह उस की व्यस्तता रही, न तटस्थता।

देश की परिस्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ रही थी। सेनेटोरियम के रोगी भी यद्यपि खेल-तमाशे 'ह्विस्ट' अथवा 'रम्मी' ड्राइवों में इकट्ठे योग देते थे, पर जब पाकिस्तान अथवा हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में कोई विवाद-ग्रस्त बात आ जाती तो रोगियों को चुप सी लग जाती। एक कासिम भाई ही था जो इस सारे दंगे-फ़िसाद की तह में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का हाथ देखता और उन्हें कोसता।

दीनानाथ निरन्तर यह वाद-विवाद सुनता और जब लेटता तो यही सब बातें उस के मस्तिष्क में घूमा करतीं।

परन्तु उधर दो महीने पहले उस ने सेनेटोरियम छोड़ा और इधर लाहौर में भयानक विस्फोट हो उठा—इतना भयानक कि कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और बम्बई के दंगे उस के सामने मात्र पटाख़ों से रह गये।

दीनानाथ की तटस्थता भी समाप्त हो गयी। आग की लपटें उस के प्रिय लाहौर तक जा पहुँची थीं, बल्कि उन्हों ने एक तरह से सब कुछ, जो वहाँ उसे प्रिय था, उस से छीन लिया था। इधर बाउंडरी-कमीशन के बैठने की घोषणा हुई, उधर मुसलमानों ने अकबरी मंडी जला डाली। दीनानाथ अपने घर और भाई-बाँधवों के लिए चिन्तित हो उठा। उस के तार के उत्तर में उस के भाई का पत्र आया था :—

'मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ और लाहौर जल रहा है। मुहल्ला सिरीन, कटड़ा पूरबियाँ, भाटी और दिल्ली दरवाजे के

अंदर हिन्दुओं के मकान, शाहआलमी दरवाज़ा और पापड़ मडी—सब जल कर राख हो चुके हैं। पापड़ मंडी की आग में सौ से अधिक मकान जल गये। आग रात के अढ़ाई बजे—ऐन करफ्यू के समय लगायी गयी। जो बुझाने आया, वह पुलिस की गोली का शिकार बना। इतनी बड़ी आग लाहौर ने कभी नहीं देखी। अकबरी मन्डी, लाहौर की सब से बड़ी गेहूँ की मार्केट—पहले ही जल चुकी है।

'रहा पुराने शहर के बाहर का इलाका, सो अनारकली में उल्लू बोलते हैं। सिविल लाइन सहमी सी लगती है। अमन है, पर वैसा ही जैसा तूफ़ान से पहले होता है। मैजिस्ट्रेट से लेकर मामूली सिपाही तक फ़िरकापरस्त हो गये हैं। लाहौर का काम-काज सब ख़त्म हो गया है। सोचता हूँ, किसी तरह दोनों मकान बेच-बाचकर भागूँ, लेकिन जायदादें पड़ी हैं और ख़रीदने वाला कोई नहीं। लोग भाग रहे हैं—शहर से, सिविल लाइन से, संत नगर से, ऋषि नगर से, राम और कृष्ण नगर से, भारत नगर और माडल टाऊन तक से। लगता है, चंद दिन में लाहौर हिन्दुओं से बिलकुल खाली हो जायगा।'

पत्र पढ़कर दीनानाथ के हृदय में बबूला सा उठा था। उसे लगता था, जैसे लाहौर को नहीं उस के हृदय ही को आग लग रही है। शाह-आलमी के भरे-पूरे बाज़ार उस की आँखों के आगे घूम गये। कृष्ण नगर, संत नगर, राम नगर, ऋषि नगर और न जाने हिन्दुओं की कितनी बस्तियाँ लाहौर के आँचल में सितारों सी टँकी हुई थीं। दीनानाथ को लगा जैसे बर्बरता का क्रूर हाथ एक के बाद एक ये सितारे नोच रहा है। उस के भाई के इस पत्र के बाद उसे कोई ख़त न मिला, लेकिन लाहौर

की तबाही, भगदड़ और पश्चिमीय पंजाब में हिन्दू स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों पर होने वाले कल्पनातीत पाशविक अत्याचारों की खबरों ने उस का दिन का चैन और रात की नींद हराम कर दी। तभी जब वह भाई को एयर-मेल से चिट्ठियाँ लिख-लिखकर और तार भेज-भेजकर हार गया था, उसे दिल्ली से उस के भाई का पत्र मिला—

'पिछले दिनों मैं इतना परेशान रहा हूँ कि लिख नहीं सकता। तुम बीमार हो इसलिए तुम्हें परेशान करना उचित नहीं समझा। अब कुछ शान्त हुआ हूँ तो तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। शान्ति का कारण यह नहीं कि मुसीबतें कम हो गयी हैं। उन का तो अभी श्री-गणेश हुआ है, परन्तु उन का पहला हमला सह जाने के बाद जब देखता हूँ कि इस मुसीबत मे मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ लाखों आदमी हैं, जिन पर मेरे ऐसी ही, बल्कि मुझ से भी कहीं ज्यादा, मुसीबतें टूटी हैं तो कुछ साहस बँधता है।

'बर्बरता जनित इस विपत्ति में बहुत से सदा के लिए ख़त्म हो गये। शायद वे दूसरों से अच्छे ही रहे हों। बहुत से गिर गये, उन में बैठने की शक्ति नहीं। बहुत से ऐसे हैं जो बैठ तो सकते हैं, पर खड़े नहीं हो सकते। जो खड़े हो सकते हैं, वे चल नहीं सकते। मैं अपने आप को उन लोगों में पाता हूँ जो खड़े हैं और चलने की शक्ति रखते हैं।

'यहाँ महात्मा गांधी, जवाहरलाल और दूसरे नेता इस कोशिश में हैं कि अधिक से अधिक शरणार्थियों को खड़े होकर चलने के योग्य बनायँ। कम्बलों के लिए, धन के लिए, अपीलें हो रही हैं, लेकिन मोटे पेट वाले इस दुखद

परिस्थिति से भी अपने पेट को कुछ और बढ़ाने की फ़िक्र में हैं। इसीलिए कीमतें आकाश को छू रही हैं। हर चीज़ महँगी है और दिल्ली का जीवन भी आसान नहीं, परन्तु तुम चिंता न करना। हम सब बच कर आ गये हैं। इन्सान काफ़ी ढीठ सिद्ध हुआ है। दुखद से दुखद परिस्थिति में वह जीने का मोह नहीं छोड़ता और हम सब आज-कल इसी ढीठपने का सबूत दे रहे हैं।'

ख़त को पढ़ते-पढ़ते उस की अंतिम पंक्तियों की कटुता दीनानाथ के हृदय को वेध गयी। भाई-बांधवों के बचने की खुशी और असंख्य अपाहिजों के ग़म से उस की आँखें डबडबा आयीं। तभी यह विचार उस के मन में उत्पन्न हुआ कि यदि वह उन असंख्य अपाहिजों में से कुछ-एक को भी इस योग्य बना सके कि वे उठकर जीवन के पथ पर चलने लगें तो कितना अच्छा हो। 'एक कम्बल एक शरणार्थी का जीवन बचाता है'—हिन्द सरकार की यह अपील उस के कानों में गूँज गयी और उस ने फैसला किया कि वह न केवल अपने पास से एक कम्बल उन अभागे शरणार्थियों के लिए भेजेगा, बल्कि सेनेटोरियम के अपने परिचित हिन्दुओं से भी रुपये इकट्ठे करेगा। मुसलमानों से चंदा माँगने का उसे ध्यान नहीं आया, क्योंकि अब उस की तटस्थता समाप्त हो चुकी थी और जब सेठ हीरामल ने तीस रुपया देते हुए मुसलमानों को ख़त्म करने की भयानक-आकाँक्षा प्रकट की तो दीनानाथ को कुछ भी बुरा न लगा, बल्कि उन की यह हसरत उसे अपने ही दिल के अरमान की गूँज लगी।

"कहो भाई, यह कापी-पेंसिल उठाये किधर जा रहे हो?"

टेबल-लैंड

सेठ हीरामल की स्पेशल काटेज से निकल कर दीनानाथ कापी में लिखे हुए तीस के अंक को गर्व-स्फीत दृष्टि से देखता हुआ जुबली वार्ड की ओर चला जा रहा था कि कासिम की आवाज़ सुन कर चौंका। उस के प्रश्न का क्या उत्तर दे, वह सहसा तय न कर पाया। बोला—"यही कुछ पञ्जाब के शरणार्थियों के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा हूँ।"

"यह बड़ा नेक काम कर रहे हो तुम", कासिम बोला—"अभी चार दिन पहले बम्बई में लेखकों और आर्टिस्टों ने सारे नगर में रैली की। तुम ने शायद पढ़ा हो, पृथ्वी और नवाब सब से पहले ट्रक में हाथ में हाथ दिये खड़े थे और उन के पीछे बारह तेरह ट्रकों में बम्बई के दूसरे प्रसिद्ध अभिनेता, लेखक, आर्टिस्ट—'वे हिन्दू और मुसलमान दोनों इलाकों में गये। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन का स्वागत किया और दंगे फ़िसाद के ख़िलाफ़ उन के भाषण और नारे सुने। मैं तो आप चाहता था कि 'एण्टी-रायट-फंड' के लिए यहाँ से कुछ चन्दा इकट्ठा करके बम्बई के आर्टिस्टों का उत्साह बढ़ाने को उन्हें भेजूँ क्यों कि शरणार्थियों को बचाने की अपेक्षा शाँति-पूर्वक बसते हुए गृहस्थों को शरणार्थी होने से बचाना भी कम महत्व नहीं रखता। लेकिन यहाँ के लोग नहीं माने। उन्हों ने दीवाली पर मौज मनाने को अभी तीन सौ रुपया इकट्ठा किया है, हम ने यह भी कहा—महात्मा गाधी का आदेश है कि ऐसे समय में जब लाखों आदमी बेघर-बेदर भटक रहे हैं, दीवाली की खुशियाँ मनाना अच्छा नहीं लगता, क्यों न वह सब रुपया बम्बई को दंगे फ़िसाद से बचाने या शरणार्थियों की सहायता के लिए भेज दिया जाये?—लेकिन भाई, मुझे एक पंजाबी दोस्त ने तुहाम्रे देश की एक मसल सुनायी थी—"कोई मरे कोई जिये, सुथरा† घोल बताशे पिये।" यहाँ के लोग उस सुथरे से किसी तरह

---

†सुथरा—एक विशेष सम्प्रदाय का साधु।

भिन्न नहीं। तुम ने बड़ा अच्छा काम किया जो चुप नहीं बैठे। तुम ने सेनेटोरियम छोड़ दिया है। तुम बिना आर० एम०ओ०† की आज्ञा लिए मित्रता के नाते चन्दा इकट्ठा कर सकते हो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। पाँच रुपये तुम मेरे नाम लिख लो।"

एक ही साँस में यह सब कह कर कासिम उसे अपने साथ अपने वार्ड की ओर ले चला।

"लेकिन भाई, मैं तुम्हें साफ़ कह दूँ, मैं पञ्जाब के शरणार्थियों के लिए रुपये इकट्ठे कर रहा हूँ।" दीनानाथ ने कुछ झिझकते हुए कहा।

"तो मुझे कब आपत्ति है?" कासिम बोला—"पञ्जाब से आने वाले हिन्दू-सिख बड़े कटु होंगे। जब तक वे दुखी रहेंगे, उन का साम्प्रदायिक क्रोध शान्त न होगा। और जब तक उन का साम्प्रदायिक क्रोध शान्त न होगा वे अपने ही ऐसे निर्दोष मुसलमानों की हत्या करने से बाज न आयेंगे। उन की मदद करना तो मेरे लिए अपने भाइयों की मदद करने के बराबर है।"

अब दीनानाथ क्या उत्तर दे? चुप-चाप वह कासिम के साथ उस के वार्ड की ओर चल पड़ा।

कासिम दीनानाथ को अपने बिस्तर पर ले गया और चाबी से अलमारी खोल कर उस ने पाँच का एक नोट दीनानाथ के हाथ पर रख दिया।

नोट लेने के अतिरिक्त दीनानाथ के लिए कोई चारा न था। उस ने धन्यवाद दिया और चलने के विचार से हाथ बढ़ाया।

उस का हाथ अपने हाथ में लेते हुए उसे तनिक रोक कर कासिम

---

† आर० एम० ओ०—Residential Medical officer.

भाई ने कहा—"देखो दोस्त, मेरी मानो तो अपनी अपील को ज़रा सा बदल लो। यह क्यों नहीं कहते कि हिन्दू-मुसलमान दोनों शरणार्थियों के लिए इकट्ठा कर रहा हूँ।'

"मुसलमान शरणार्थी तो पाकिस्तान चले गये।"

"फिर क्या हुआ, अभी तो बहुत से बाकी हैं।"

"लेकिन भाई, मैं तो हिन्दुओं ही के लिए इकट्ठा कर रहा हूँ। तुम मुझे इस साफ़गोई के लिए माफ़ करना। तुम मेरे मित्र हो साफ़ साफ़ कह दिया। चाहो तो तुम अपने पाँच रुपये वापस ले लो।"

यह कहते हुए दीनानाथ ने नोट वाला हाथ आगे बढ़ा दिया।

कासिम हँसा—"शायद साधारण हिन्दुओं की भाँति तुम्हें भी मुसलमानों से कोई हमदर्दी नहीं और उन की मुसीबतों को तुम उन्हीं के गुनाहों का फल समझते हो। लेकिन मेरे दोस्त, उन का दोष उन बच्चों के दोष ऐसा ही है जो नहीं समझते कि उन के बड़े उन्हें क्या सिखाते हैं। साधारण लोगों—ख़ास कर अपने देश के साधारण लोगों और बच्चों में कोई अन्तर नहीं। मुसलमान-जनता की बात छोड़ो। तुम हिन्दुओं की बात लो। एक ज़माना था जब महात्मा गाँधी की ठीक इच्छा क्या है, इसे न जानते हुए जनता ने सुभाष बाबू को दूसरी बार कांग्रेस का प्रधान चुना, लेकिन जब महात्मा गाँधी ने पट्टाभी की हार को अपनी हार कहा तो वही सुभाष दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर किये गये। वही लोग उन की निन्दा करने लगे जिन्हों ने उन्हें राष्ट्रपति चुना था। देश में अपमानित होकर सुभाष बाबू, जान की बाज़ी लगा कर, बाहर चले गये। उन्हों ने आई० एन० ए० को जन्म दिया और वही जनता उन के गुण-गान करने लगी। फिर वह समय भी आया कि सुभाष बाबू के प्रति जनता के प्रेम को देख कर उसी कांग्रेस को चुनाव जीतने के लिए उन का और उन की सेना का डिड्डम पीटना

पड़ा । तुम यदि जन-साधारण में जाओ तो उन की सरलता को देखकर चकित रह जाओ। अधिकाँश यह नहीं जानते कि उन पर जो यह विपत्ति टूटी है, उस में ईसा के अनुयायी अंग्रेज़ों का कितना हाथ है । वे नहीं जानते कि १६०६ में अंग्रेज़ो ने हिन्दू-मुसलमानो में नफरत का जो बीज बोया था, वही आज विष-वृक्ष बन हमारी इस धरती की जड़ों को विषैला बना रहा है। नहीं जानते कि पंजाब का यह हत्याकाण्ड मुसलमान को हिन्दू से लड़ाने की उस कूट-नीति की चरम-पराकाष्ठा है। यदि कोई निष्पक्ष ट्रिब्यूनल इस भयानक-रक्तपात की छानबीन करे तो संसार को पता चल जाय कि शान्ति के पुजारी महात्मा ईसा के इन अनुयाइयों ने अपने साम्राज्य की आवश्यकताओं के लिए किस हृदयहीन कूट-नीति से लाखों की हत्या कर डाली है। लेकिन जो हो गया, उसे वापस नहीं लाया जा सकता । हमारा कर्तव्य तो यही है कि अंग्रेज़ द्वारा लगाये गये इस विष-वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंके। ताकि नये राष्ट्रों के पौधे इस के विषैले प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्रता से बढ़ें, फलें और फूलें । यह काम इतना सुगम नहीं, यह मैं जानता हूँ, लेकिन हमें यह मालूम तो होना चाहिए कि इस मुसीबत के समय हमारा कर्तव्य क्या है ।......लेकिन मैं तो भाषण झाड़ने लगा," सहसा रुक-कर कासिम भाई ने कहा—"तुम भाई, यह रुपये अपने ही पास रखो। मैंने तो केवल इसलिए कहा था कि सेनेटोरियम में मुसलमान, पारसी और ईसाई अधिक हैं और हिन्दू कम । अपनी अपील को ज़रा विस्तार दे लेते तो रुपया ज्यादा इकट्ठा हो जाता । फिर चाहे तुम हिन्दू शरणार्थियों को भेजते, चाहे मुसलमानों को ।"

दीनानाथ को कासिम की बातें उसी तरह ठीक लगीं जैसे सेठ हीरामल की । कासिम भाई के स्वर में भी उसे अपने अन्तर के स्वर की गूँज सुनायी दी । पर कौन स्वर ठीक है और कौन ग़लत यह वह

तय न कर पाया। उस ने हारते हुए से स्वर में केवल इतना कहा—"मुझ से यह न होगा कि मैं मुसलमानों से चन्दा इकट्ठा करूँ और हिन्दुओं को भेज दूँ।"

"देखो, ऐसा करो कि तुम 'एण्टी-रायट-फंड' के नाम पर चन्दा इकट्ठा करो। हिन्दू शरणार्थियों की मदद करना भी दंगे को बढ़ने से रोकना ही है। जैसा कि मैंने अभी कहा, वे जब तक पहले की तरह बसेंगे नहीं, अपने दुख का बदला मुसलमानों से लेना छोड़ेंगे नहीं। उन की मदद मुसलमानों की मदद है। चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ। हमारी अपील होगी—दंगे को रोकना और शरणार्थियों की सहायता करना।"

और दीनानाथ की ख़ामोशी को नीम-रज़ा समझ कर कासिम उस के साथ चल पड़ा।

जब तीन घंटे के बाद सेनेटोरियम के दरवाजे पर कासिम भाई का धन्यवाद करते हुए दीनानाथ ने उस से हाथ मिलाया तो उस की जेब में दो सौ रुपये थे।

सात दिन तक दीनानाथ निरन्तर चन्दा इकट्ठा करता रहा। कासिम भाई की सहायता से, पहले ही दिन उसे अपने काम में जो सफलता मिली, उस से उस का साहस बढ़ गया था और जहाँ वह दस-बीस रुपये इकट्ठा कर पाने का विचार लेकर घर से निकला था, वहाँ अब उस ने पाँच सौ रुपया इकट्ठा कर भेजने का निश्चय कर लिया था। वह बीमार था। इस से पहले वह केवल साँझ-सवेरे बाज़ार तक आया करता था, परन्तु इन सात दिनों में वह टैक्सी लेकर पारसी, खोजा और हिन्दू आदि सेनेटोरियमों तक हो आया था। आस-पास के मकान,

बँगले और बाज़ार उस ने मथ डाले और आज आठवें रोज़ वह मेनरोड पर चला जा रहा था और उस की जेब में दस कम पाँच सौ रुपये थे। उस ने सुना था कि डाक्टर मरचेंट का अपना नर्सिंग-होम है जहाँ वे कुछ रोगी रखते हैं और उस का विचार था कि दस की कमी वह उन के नर्सिंग होम से पूरी करेगा और रुपये भेज कर तब एक सप्ताह तक पूरा आराम करके जो वज़न घट गया है, उसे पूरा करेगा।

दायीं ओर रिंग रोड और उस के बँगलों के ऊपर, ढलवान पर उगे हुए गगनचुम्बी सिलवर ओक के पेड़ों की फुनगियों के साथ साथ, एक काली चट्टानी दीवार चली गयी थी। एक दिन दीनानाथ चन्द मित्रों के साथ टेबल-लैंड की इस दीवार को देखने गया था। जब उन की टैक्सी कान्वेंट स्कूल के पास से होती हुई, साँप की भाँति बल खाती-सी सड़क पर चढ़, इस काली दीवार के ऊपर पहुँची तो दीनानाथ यह देखकर चकित रह गया था कि काली-काली चट्टानी दीवार दीवार नहीं, बल्कि मीलों तक समतल फैली हुई धरती का एक किनारा है। इस ऊँचाई के ऊपर, किस प्रकार इतनी लम्बी-चौड़ी समतल धरती चारों ओर काली चट्टानी दीवारों पर टिकी रह गयी, वह सोचने लगा। पर तब यह सोच-विचार छोड़कर वह टेबल-लैंड के सौंदर्य का रस लेने लगा था—सामने, दृष्टि सीमा तक, समतल धरती फैली थी जिस पर घास शीत से झुलसकर मटमैली बन गयी थी। ऊपर नीला आकाश किसी उलटे प्याले की भाँति टेबल-लैंड को ढँके हुए दिखायी देता था। और श्वेत श्वेत बादल—लगता था जैसे प्याले की मदिरा के गिर जाने से फेन उस के तल से लगी रह गयी है।

दीनानाथ इसी रिंग रोड वाले किनारे पर आ खड़ा हुआ। तब इस किनारे से आस-पास की लाल लाल, मट-मैली, रुण्ड-मुण्ड पहाड़ियों में, अनन्त मरुभूमि के छोटे से शाद्वल सी, यह हरी-भरी पंचगनी उसे

बड़ी सुन्दर लगी थी। टेबल-लैंड की उस ऊँचाई से, लम्बे-लम्बे सिलवर के वृक्षों से ढकी हुई नन्हीं-नन्हीं सड़कें, नन्हे-नन्हे बाग बागीचे, नन्हे खिलौनों से बँगले और बौनों से स्त्री-पुरुष उसे बहुत ही भले लग रहे थे। उस का जी चाह रहा था कि उस किनारे पर खड़ा निरन्तर पंचगनी की इस स्वर्गिक सुन्दरता को देखता रहे।

लेकिन वह सात दिन से पंचगनी के इन सुन्दर बाग-बागीचों और बँगलों में घूम रहा था और उसे पता चला था कि टेबल-लैंड से इतनी सुन्दर दिखायी देनेवाली पंचगनी वास्तव में कितनी कुरूप है। सात दिन से घर-घर घूमने पर उसे मालूम हुआ था कि चार सेनेटोरियमों के अतिरिक्त (जहाँ खुले आम दिक़ के रोगी रह सकते हैं) स्थायी निवासियों के निवास-स्थानों को छोड़ कर, कम ही ऐसे बँगले अथवा घर होंगे जहाँ यक्ष्मा से पीड़ित अथवा उन के दुख से दुखी सगे-सम्बन्धी नहीं रहते।

चलते-चलते टेबल-लैंड के नीचे, सिलवर के पेड़ों से ढके, इन सुन्दर बँगलों को देखते-देखते दीनानाथ के हृदय से एक दीर्घ-निश्वास निकल गया। इन बँगलों और इन में स्वास्थ्य-लाभ करनेवाले रोगियों की श्री-सम्पन्नता का ध्यान आते ही बाज़ार के नीचे चैसेन-रोड तक बने हुए बँगला-नुमा-दड़बों में इस मूज़ी रोग से जूझनेवालों की विपन्नता उस के सामने घूम गयी। साथ ही दो घटनाएँ और दो आकृतियाँ उस की आँखों में कौंद गयीं।

चैसेन रोड के एक दड़बे के दरवाजे पर उस ने दस्तक दी थी। किसी ने खाँसते हुए क्षीण स्वर में उत्तर दिया था—'आ जाइए !'

दरवाज़ा बन्द था। वह अन्दर चला गया था। एक बहुत छोटा कमरा था, जिस में एक चारपाई, एक मैली-सी कुर्सी और तिपाई पड़ी थी। इस से अधिक फ़र्नीचर कमरे में रखा ही न जा सकता था।

चारपाई पर एक अत्यधिक क्षीण रोगी कंठ तक लिहाफ़ ओढ़े और गर्दन और गले को गलूबन्द से पूरी तरह लपेटे पड़ा था। दीनानाथ ने अपना मन्तव्य प्रकट किया और अपनी बीमारी के बावजूद देश की इस विपत्ति में अपना कर्तव्य निभाने की बात कही तो उस रोगी की आंखें चमक उठीं। बड़े कष्ट के साथ काँपते हुए हाथों से, तकिये के नीचे से टटोल-कर उस ने एक छोटा सा बटुआ निकाला और रुपये रुपये के दो नोट उस की ओर बढ़ाते हुए कहा :—

"आप बड़ा नेक काम कर रहे हैं। मुझे तो बैठने तक की मनाही है। दोनों फेफड़े खराब हैं, नहीं मैं स्वयं आप के साथ चल कर चन्दा इकट्ठा करता। ग़रीब आदमी हूँ। इतनी कम रक़म के लिए क्षमा कीजिएगा।"

दीनानाथ के गले में गोला सा अटक गया। आर्द्र होकर उस ने कहा—"जी, आप के यह दो रुपये दो सौ के बराबर हैं। बूँद-बूँद ही से तालाब भरता है। आप के इन दो शब्दों से मुझे जितना प्रोत्साहन मिला है, वह भी तो अपना मूल्य रखता है।"

और उस ने उन का नाम पूछा।

"दो रुपये के लिए नाम...?" रोगी ने कहना चाहा।

दीनानाथ ने बात काट कर कहा—"आप नाम लिखा दीजिए। मुझे तसल्ली हो जायेगी कि मैं सब जगह गया और उन्हें तसल्ली होगी कि सब सम्प्रदाय इस विपत्ति में उन के साथ हैं।"

"नासिर० एस० आबूवाला।" रोगी ने विवशता से कहा।

नासिर भाई की पीली पीली मुरझाई हुई आकृति के ऊपर दीनानाथ की आँखों में चम्पक लाल राम-रत्न पटेल की हृष्ट-पुष्ट चमचमाती सूरत घूम गयी थी।

पचगनी में उन की बड़ी दूकान है। वह सुबह उन के यहाँ गया तो जो महाशय काऊँटर पर खड़े थे, उन्हों ने कहा कि हमारे साझीदार आयँ तो उन से पूछ कर देंगे। दीनानाथ ने कहा—"आप को जो भी देना हो, दे दीजिए। मैं बीमार आदमी हूँ। बार बार आने में मुझे कठिनाई होगी।";

"जी, बिना पूछे हम कैसे दे सकते हैं। साझीदारी का मामला है। आप संध्या को आइए।"

दीनानाथ संध्या को फिर उन के यहाँ पहुँचा। काऊँटर पर दूसरे बुजुर्ग थे। उन्हों ने संन्यासियों के से अन्दाज़ में बताया कि वे तो सब माया-मोह से किनारा कर बैठे हैं और दूकान में उन के हिस्से का वाली उन का बेटा चम्पक है। दीनानाथ चन्दे के सम्बन्ध में उन्हीं से पूछे।

आज सुबह वह उन के उत्तराधिकारी चम्पक लाल से मिला था। सौभाग्य से दोनों साझीदार स्टोर पर थे। चम्पक लाल सूट बूट से लैस गोरे रंग और मँझले कद का, युवक था। गाल उस के छोटी छोटी डबल रोटियों की भाँति फूले हुए थे, क्रीम से चमचमा रहे थे और उस की आकृति पर अपूर्व तुष्टि का आभास था। दीनानाथ ने जब उस से अपना मंतव्य प्रकट किया तो उस ने पूछा "आप के पास किसी का अधिकार-पत्र है? क्या प्रमाण है कि रुपया आप शरणार्थियों को पहुँचा ही देंगे?"

दीनानाथ ने कासिम भाई के बताये हुए गुर के अनुसार कहा कि वह आर्टिस्ट है और अभी दो अक्तूबर को बम्बई के आर्टिस्टों और लेखकों ने दंगा रोकने के लिए जो रैली की है, उसी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह चन्दा इकट्ठा कर रहा है। देवधर हाल में उन का आफ़िस है। वहीं वह सब रुपया भेज देगा। मनीआर्डर की रसीद उन को दिखा देगा।

तब उस ने कापी दीनानाथ के हाथ से लेकर लिस्ट पर दृष्टि डाली और फिर संतुष्ट हो कापी उसे देते हुए पूछा—"आप कितना चाहते हैं ?"

दीनानाथ उस युवक के व्यवहार से कुछ जल गया था। उस ने कहा—"आप ने लिस्ट तो देख ही ली है। यहाँ तीस रुपये भी हैं और चार आने भी। आप को जो अभीष्ट हो, दे दीजिए।'

तब उस ने दराज से चार आने निकाल कर काऊँटर पर दीननाथ के सामने फेंक दिये और साझीदार से, जो कदाचित् उस के चचा थे, कहा कि चार आने फंड में दिये हैं, नोट कर लें।

ऊपर टेबल-लैंड अपनी समस्त सुन्दरता के साथ अविचल खड़ी थी और नीचे पंचगनी और उस के बँगले और दूकानें और दड़बे— जिन में सुन्दर सूरतें और कुरूप दिल तथा असुन्दर सूरतें और सुन्दर दिल थे। प्रकृति के अपूर्व सौन्दर्य की छाया में क्या समस्त सभ्य-संसार और उस के वासी पंचगनी और उस के वासियों ऐसे नहीं— दीनानाथ सोचने लगा—लेकिन तभी डाक्टर मरचेंट का नर्सिंग होम आ गया और वह अपने विचारों को झटक कर उस ओर बढ़ा।

डाक्टर मरचेंट के नर्सिंग-होम में एक बड़ा बँगला और पीछे के दो छोटे ब्लाक शामिल थे। बड़े बँगले में चार ब्लाक थे। दीनानाथ को पहले ब्लाक ही से पाँच रुपये मिल गये। कोई उदार-विचारों का धनी युवक अपनी बीमार पत्नी को लेकर आया हुआ था। सुबह ही डाक्टर साहब ने बताया था कि उसे अब आराम आ गया है और वह प्रसन्न था। दूसरे ब्लाक से दो रुपये और तीसरे से एक रुपया मिला था। चौथा ब्लाक खाली था। दो रुपये उसे दरकार थे और वह पीछे की ओर चल पड़ा।

अभी वह ब्लाक से दूर ही था कि उसे एक स्त्री पिछली ओर (सम्भवतः रसोई-घर के आगे) एक लड़की के साथ खड़ी दिखायी दी। दीनानाथ को देखते ही दोनों अन्दर भाग गयीं। लेकिन उस एक निमिष ही में दीनानाथ ने जहाँ उन की भूषा देखकर जान लिया कि वे उत्तर की हैं—चाहे फिर पंजाब अथवा यू० पी० की हों—वहाँ उन की आकृतियों पर गहरी व्यथा की छाप भी उस से छिपी न रही। उन की दुखी निगाहें तीरों की भाँति उस के हृदय को बेधती हुई चली गयीं। वह उन निगाहों की व्यथा से अनभिज्ञ न था। नये नये पंचगनी आने वाले रोगियो और उन के तीमारदारों की आँखों में कुछ ऐसी ही व्यथा होती है। इन के साथ आने वाले रोगी की बीमारी कदाचित् असाध्य है इसीलिए इन की आँखो के ग़म की मात्रा भी अधिक है—उस ने मन ही मन सोचा—और बढ़कर पहले ब्लाक पर दस्तक दी।

वहाँ से उसे एक रुपया मिल गया। अब पाँच सौ में केवल एक रुपया कम रह गया था। वह उत्साह के साथ, आशा और निराशा में झकोले लेता सा, दूसरे ब्लाक की ओर बढ़ा। न जाने क्यों, वह चाहता था कि उसी ब्लाक से उसे एक रुपया मिल जाय और उस का पाँच सौ रुपया पूरा करने का निश्चय डा० मरचेंट के नर्सिंग-होम ही में पूरा हो जाय—और उस ने दस्तक दी।

कुंडी खोल कर जो लड़की दीनानाथ के किवाड़ खोलते खोलते अन्दर भाग गयी, दीनानाथ को लगा कि वही थी जो उसे आते समय कदाचित् अपनी माँ के साथ बाहर खड़ी मिली थी।

अन्दर चारपाई पर एक पचास-पचपन वर्ष के अत्यन्त क्षीण-काय बुज़ुर्ग लेटे थे। एक अजनबी को देख कर उठ बैठे। उन के कल्लों की स्याही और दृष्टि के सहम में उन माँ बेटी की सी व्यथा छिपी थी।

उन को देखकर दीनानाथ को अपना संदेह ठीक ही जान पड़ा। उस ने अपने आने का मंतव्य प्रकट किया तो उन के ओठों पर एक वेदना-भरी क्षीण मुस्कान फैल गयी।

"हम ग़रीब क्या मदद कर सकेंगे ?" उन्हों ने कहा।

"कुछ भी दीजिए, लोगों ने तीस रुपये से लेकर चार आने तक दिया है।"

तब उन बुजुर्ग ने अपने लकड़ी जैसे हाथों से बिस्तर के नीचे से कुछ टटोलने का प्रयास किया। असफल रहने पर आवाज़ दी—"अफ़ज़ल !"

वही छोट-सी लड़की क्षण भर के लिये किवाड़ की ओट में आ खड़ी हुई और उस ने जिस तरह कहा कि "अफ़ज़ल बाहर गया ऐ !" उस से अनायास दीनानाथ के मुँह से निकला—"की तुसीं पंजाबी ओ ?"

यह कहते हुए वह पास पड़ी हुई लोहे की कुर्सी पर बैठ गया।

"जी असीं बे-नसीब जलन्धर दे रहनवाले आँ !"

"वहाँ कोई मुसलमान रहा या पश्चिम के हिन्दुओं की तरह सब उजड़ गये ?"

"सब तबाह हो गये !" बुजुर्ग ने आर्द्र कंठ से कहा और पहरावे से उसे मुसलमान समझकर वे अपनी विपदा की कहानी उस से कह चले।

दीनानाथ ने पाकिस्तान में हिन्दू-सिख स्त्रियों पर होनेवाले पाशविक अत्याचारों की बात सुनी थी—कुँवारी लड़कियों के साथ बलात् किया गया। उन को नंगा करके उन की छातियों पर पाकिस्तान ज़िन्दाबाद लिखकर उन का जलूस निकाला गया। बड़ी बूढ़ियों की छातियाँ काटी गयीं। माँ-बाप के सामने उन की बच्चियों के साथ मुँह काला किया गया

बच्चों के सामने उन के माता-पिता की गर्दनें काटी गयीं। क़त्ल, ग़ारतगरी, लूट की ऐसी दहला देनेवाली घटनाएँ पढ़-सुनकर दीनानाथ का रक्त ख़ौल खौल उठा था। लेकिन उन बुज़ुर्ग से जालन्धर में मुसलमानों की तबाही का हाल सुनते सुनते दीनानाथ के रोंगटे खड़े हो गये। इन में से कौन सा अत्याचार था जो राम और कृष्ण, नानक और गोविन्द के नाम लेवाओं ने मुसलमानों पर न तोड़ा था। जब उन बुज़ुर्ग ने बताया कि स्टेशन के पास हिंदुओं ने दो बड़े-बड़े हवन-कुण्ड बना रखे थे जिन में मुसलमानों को बली के बकरों की भाँति जीवित झोंक दिया जाता था और प्रतिशोध के देवता को यह बली देकर ब्राह्मण उल्लास से जयकारे बुलाते थे तो दीनानाथ के लिए कुर्सी पर बैठे रहना मुश्किल हो गया। बेचैन होकर वह कमरे में घूमने लगा। उन बुज़ुर्ग के दो बड़े लड़के, एक लड़की और दामाद, भिन्न यातनाएँ सहकर प्रतिशोध की इस वह्नि में जल गये थे। वे अपनी पत्नी और बच्ची के साथ दिल्ली में हकीम को अपना आप दिखाने आये हुए थे। दिल्ली में झगड़ा हुआ तो किसी प्रकार तन के कपड़े लेकर बम्बई पहुँचे। बीमार तो थे ही। बम्बई के डाक्टरों ने दिक़ का फ़तवा दिया। किसी प्रकार मुसलमान भाइयों की सहायता से पंचगनी आये। उन का छोटा लड़का पाकिस्तान चला गया था। उन की बीमारी की ख़बर पा, जान को जोखम में डालकर कराची के रास्ते बम्बई पहुँचा।

"इन्तक़ाम की आग में तन-मन जलता है" वे बोले, "लेकिन जब उस से पाकिस्तान में हिन्दुओं पर होनेवाले ज़ुल्मों की बात सुनते हैं तो इसे अपने ही गुनाहों का फल समझकर चुप हो रहते हैं। दो महीने से डाक्टर मर्चेंट के यहाँ पड़े हैं, लेकिन मुसलमान ही सही डाक्टर साहब कारूँ तो हैं नहीं। कब तक मदद करेंगे!" और उन्हों ने माथे पर हाथ मारकर कहा कि जो ख़ुदा को मंज़ूर है......

बात समाप्त करते करते बुजुर्ग की आँखों से अनायास आँसू बहने लगे। तब न जाने दीनानाथ को क्या हुआ। वह सेठ हीरामल से किया हुआ अपना वचन भूल गया। आवेग-वश जेब से उस ने एक कम पाँच सौ के नोट और रेज़गारी निकाली और उसे बुजुर्ग के सामने चारपाई पर रख दिया।

बुजुर्ग ने चकित-तरल आँखों से उस की ओर देखा।

"बाबा, मैं भी हिन्दू हूँ। मेरा घर-द्वार पाकिस्तान में लुट चुका है। पाकिस्तान में रब्बुल-आलमीन में यकीन रखनेवाले मुसलमानों ने बेकसूर हिन्दुओं पर और हिन्दुस्तान में घट घट में वासी भगवान के अनुयाइयों ने निर्दोष मुसलमानों पर जो अत्याचार तोड़े हैं, उन का कफ्फ़ारा* वे सात जन्म में अदा नहीं कर सकते। मेरी यही दुआ है कि भगवान उन दोनों को सुमति दें। मैं यह चन्दा पंजाब के दुखी शरणार्थियों के लिए इकट्ठा कर रहा था। आप भी पंजाब के शरणार्थी हैं और दुखी भी कम नहीं। रुपया ज्यादा नहीं, पर देखिए, यदि इस से आपका कुछ काम निकल सके।"

और इस से पहले कि बुजुर्ग कुछ कहते अथवा दीनानाथ कुछ और सोचता, वह रूमाल से आँखों को पोंछता हुआ बाहर निकल आया।

आस पास रुण्ड-मुण्ड, सूखी मटियाली पहाड़ियाँ बिखरी हुई थीं और उन के मध्य अपनी समतल धरती और समस्त भव्यता को लिये हुए टेबल-लैंड खड़ी थी। दायीं ओर डूबते हुए सूर्य की किरणें सिलवर के पेड़ों की फ़ुनगियों को छूती हुई उसे अपूर्व-आकर्षण प्रदान कर रही थीं।

---

* कफ्फ़ारा=पश्चाताप।

कौशल्या अश्क

ठेस

रजवा भागती हुई सी अपनी कोठड़ी में आयी, उस ने अपने नये कपड़े उतार कर फेंक दिये, जल्दी जल्दी पुराने, तार तार चीथड़े पहने और पिछले दरवाजे से बाहर निकल गयी।

नये कपड़े उतारते समय, जैसे कल्पना ही में, वह क्षण भर के लिए रुकी थी; पुराने चीथड़े पहनते समय भी वह निमिष भर के लिए रुक गयी थी, अपनी यथार्थ-स्थिति का भी जैसे उड़ता हुआ सा आभास उसे मिला था, परन्तु जो अंधी-दुर्निवार भावना उसे अपनी कोठड़ी में, भगा लायी थी, वही जैसे उसे यह सब करने पर विवश कर रही थी और उसी ने जैसे उसे धकेल कर बाहर कर दिया।

उस का जन्म कब हुआ? कहाँ हुआ? किन परिस्थितियों में हुआ? उसे कुछ भी ज्ञात न था, उस ने तो जब से होश सम्हाला, अपने आप

को अपनी चची के साथ घूमते पाया। उस की चची—न जाने वह उस की चची थी भी या नहीं—जहाँ कहीं भी भीख माँगने जाती, उसे साथ ले जाती। जाने वह कहाँ कहाँ घूमी थी—गली गली, घर घर, दर दर.........

बालिका से वह किशोरी बनी और किशोरी से युवती, किन्तु यह सब समय मानों एक जलता-तपता, विशाल मरु था जिस में कहीं भी तो चार हरे तिनके न थे और अब यौवन के साथ इस मरु की उष्णता में और भी वृद्धि हो गयी थी। जलती-तपती बालू और विषाक्त तूफ़ानों के अतिरिक्त उसे कहीं कुछ दिखायी न देता। और इस विशाल-मरुस्थल में उस के पाँव ही न जलते थे, उस का रोम-रोम झुलस उठता था। ओठ और कंठ ही न सूखते थे, लगता था, जैसे उस के हृदय का स्तर-स्तर सूख कर मुरझा जायगा—लगता था जैसे वह दम घोंटने वाली उष्णता से संतप्त होकर समाप्त हो जायगी—या उस विषैले-पवन का कोई झोंका उस के शरीर में सदैव के लिये विष भर देगा।

तभी एक दिन उस की चची नगर से बाहर नयी बस्ती में भीख माँगने गयी। बस्ती अभी पूर्णतयः बसी न थी और मकान किसी शराबी के गडमड सपनों की भाँति बिखरे हुए थे। यों तो वह पहले भी दो चार बार इधर आयी थी, पर उन दिनों अधिकतर मकान ख़ाली ही पड़े रहते थे। बिजली न थी, नालियों का प्रबन्ध न था और गन्दे चहबचों के मारे गलियों में नाक न दी जाती थी। फिर चोरों का भय भी था। किन्तु अब बिजली आ गयी थी, नालियाँ भी बुरी-भली बन गयी थीं और वहाँ के प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने दो चौकीदार भी रख दिये थे। इस के अतिरिक्त युद्ध के कारण अगणित लोग नगर में आ गये थे। अतः नगर से दो मील की दूरी पर बसी इस बस्ती के मकान भी ख़ाली न रहे थे और रजवा की चची ने फिर इधर आना आरम्भ कर दिया था।

बस्ती के उन निवासियों में एक कवि भी था—पतला छरहरा शरीर, गेहुँआ रंग, बड़े बड़े घुँघराले बाल, पतले पतले गुलाबी ओठ, आँखें न बहुत बड़ी न छोटी, जिन पर सदैव एक चश्मा लगा रहता था—इस कवि से उन लोगों को प्रायः भिक्षा मिल जाया करती थी।

उस दिन कवि कुछ प्रसन्न था। जब वह उस के दरवाजे पर भीख माँगने गयी तो उस ने रजवा की चची से हाल चाल पूछा। रजवा की चची जैसे इसी बात की प्रतीक्षा कर रही थी। उस ने कवि को प्रसन्न देख कर अपने रोगी पति की कहानी सुनायी—"ग़रीबों का हाल चाल कैसा बाबू जी! कमाने वाला बीमार पड़ा है और हम दोनों घर घर भीख माँग रही हैं। परदेशी लोग हैं, किसी को जानते नहीं कि कहीं कोई काम काज कर लें.........।"

कवि की प्रसन्नता हल्के, श्वेत बादल सी उड़ गयी। उस का मुख गम्भीर और उदास हो गया। करुणा से भर कर उस ने उन को एक रुपया दिया। रुपया देते समय उस ने एक दबी हुई निगाह रजवा के मुख पर डाली। रजवा को उस दृष्टि में कुछ ऐसी चीज़ दिखायी दी जो उन सभी निगाहों से भिन्न थी, उन सभी निगाहों से, जो नितान्त निसंकोच होकर उस के मुख से लेकर उस के शरीर के अंग अंग का निरीक्षण कर लेती थीं। जिन में धृष्टता के साथ वासना भी लपलपाया करती था। कवि की उस दबी-दृष्टि में न धृष्टता थी न वासना। थी केवल एक चकित-उत्सुकता! और स्वयं रजवा की आँखों में उस सहृदय-कवि के लिए श्रद्धा सी उमड़ आयी थी।

उस का चचा बीमार न था। वास्तव में उस का कोई चचा था ही नहीं। रही उस के रोग की गाथा; सो चची को ऐसी कहानियाँ गढ़ने में अपूर्व-दक्षता प्राप्त थी। उस की कहानियों का कोई अन्त न था। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसे के पास नयी कहानी थी—उस का घर

कोयटा के भूँचाल में भी नष्ट हुआ था, बिहार के भूकम्प में भी और बंगाल के अकाल में भी। जिस वर्ष वर्षा अधिक होती, उस का घर बाढ़ की भेंट हो जाता। कभी उस का पति बीमार हो जाता। कभी मर जाता— कहानियाँ बनाना और उन्हें निबाहना वह खूब जानती थी। रजवा काँटे पर चारे का काम देती थी, किन्तु रजवा की चची इस बात का ध्यान रखती थी कि मछली तो फँस जाय, रह वह चारा न निगलने पाये।

परन्तु कवि के यहाँ जाते समय रजवा सदैव अपनी चची के पीछे रहती। न जाने क्यों कवि से वह लजाती थी। भीख उस की चची माँगती, बातें भी उस की चची करती। रजवा कुछ अन्तर पर चुपचाप खड़ी रहती। वह चाहती कि स्वयं भी आगे बढ़ कर कुछ बात करे, किन्तु वे समस्त बातें जो वह दूसरों से किया करती, उस के ओठों तक आकर रह जातीं और उस के मुँह से एक शब्द भी न निकल पाता।

तभी एक दिन कवि ने रजवा की चची की करुणाजनक कहानी सुन कर कहा—"यदि तुम या रजवा कोई आकर मेरे यहाँ कुछ काम कर दिया करो—यही कुछ झाड़ू-बुहारी या एक दो कपड़ों की धुलायी आदि तो मुझे भी सुविधा हो जाय और तुम्हारा भी काम चल जाय।" और फिर स्वयं ही उस ने कहा—"तुम्हें सम्भवतः अपने पति को देख-रेख करनी होगी, तुम न आ सको तो रजवा ही दो एक घंटों के लिए हो जाया करे।

"आप की दया बनी रहे बाबू जी।" उस की चची ने रटे हुए आशीर्वादों का क्रम आरम्भ करते हुए कहा, "मैं इस से अभी कह देती हूँ। मैं स्वयं सौ बार आप का काम कर देती, पर मेरे पति का जी ठीक नहीं। आप यदि सहायता न देते तो न जाने उस की क्या दुर्गति होती।"

चचा के रोग की वास्तविकता को रजवा भली-भाँति जानती थी। वह इस झूठ पर झुँझला भी उठा करती थी और जब उसे इस झूठ

को सत्य बनाने में स्वयं भी योग देना पड़ता था तो वह झल्ला जाती थी, परन्तु इस बार उसे झल्लाहट नहीं हुई। उस के हृदयाकाश पर हल्के-फुल्के बादल छा गये। ओठ मुस्करा उठे और उस के तन में एक अज्ञात सी सनसनी दौड़ गयी।

"रजवा इधर आ बेटी।"

"जी आयी।" कहते हुए रजवा आगे बढ़ी, किन्तु स्वर उस के ओठों से नहीं निकला। उस का मुख लजा से लाल हो उठा, आँखें झुक गयीं और वह बढ़ी तो उस की गति में कम्पन था।

लज्जा की यह अनुभूति उस के लिए एक दम नयी थी। पहले वह स्वयं अपने मुख को लजा के अकृत्रिम आवरण से ढाँपने का प्रयास किया करती थी, किन्तु अब अनायास उस के मुख पर लजा की अरुणिमा छायी जा रही थी।

"देखो बेटी, रोज़ आकर इन बाबू जी का काम कर दिया करो। यदि मैं न भी आ सकूँ तो तुम अवश्य आकर इन का काम देख जाया करो।"

और उस की चची आठ आने पाकर, शुभ वचनों के फूल बरसाती चली गयी थी और जीवन में सम्भवतः पहली बार धक-धक करते हुए हृदय को लिये हुए रजवा अपने आप कमरे की सफ़ाई करने लगी थी।

कवि दिन दिन भर पढ़ता, दिन दिन भर कविता लिखता। कविता लिखते समय वह पागलों की भाँति सुध-बुध खो देता। काम करते करते रजवा उस की ओर देखने लगती—एक टक वह उस की ओर देखती रहती—कविता लिखने के पश्चात् वह उसे उच्च-स्वर में गाता। उस समय अपनी इस सफलता के मद में झूमते हुए उस के पतले गुलाबी

ओठों पर एक अस्फुट-मुस्कान दौड़ जाती। रजवा उसे चुपचाप देखती रहती। वह जो कुछ लिखता है, उस का अर्थ क्या है? यह तो वह कभी न समझ पाती, परन्तु उस का गाना उसे अतिशय प्रिय लगता। और उस के हृदय के तार किसी अदृश्य मिज़राब के स्पर्श से झनझना उठते। ऐसे में जब कवि कभी उस की ओर देख लेता तो उस के मुख पर अपने आप वही अरुण-श्वेत-आवरण सा छा जाता। वह कवि की ओर केवल उसी दशा में देख पाती, जब वह उस की ओर न देख रहा हो। जब कभी वह उस की ओर देखता रजवा के पलक झुक जाते।

जनवरी का महीना था। वर्षा के अभाव में सूखा जाड़ा पड़ने के कारण कवि बीमार हो गया।

"रजवा ज़रा तीन नम्बर से डाक्टर साहब को बुला लाओ! मेरा नाम ले देना", ज्वर के कारण चढ़ी हुई आँखों और पीड़ा के मारे फटे जाते हुए सिर को थाम कर कवि ने कहा।

रजवा पूरा वाक्य सुने बिना ही भाग गयी।

डाक्टर साहब ने आकर निरीक्षण किया। "निमोनिया हो गया है" उन्हों ने चिन्तित स्वर में कहा, "मैं दवा भेजता हूँ, सावधानी से उपचार करने की ज़रूरत है।

रजवा को उन दिनों न जाने क्या हो गया? दिन भर वह कवि के सिरहाने बैठी रहती और सारी रात उस की सेवा-शुश्रूषा में काट देती। यह कवि कौन है? उस के सम्बन्धी नहीं क्या? इतने बड़े नगर में यह अकेला क्यों है? इसी प्रकार के बीसियों प्रश्न उस के मस्तिष्क में उठते। और वह चाहती कि वह कवि के सगे-सम्बन्धियों का अभाव, उस के माता पिता का अभाव, उस के मित्रों का अभाव सब अपनी सेवा और उपस्थिति से पूरा कर दे।

वह दूसरों से कितना भिन्न था। इतने दिनों से वह उस के यहाँ काम करती थी, किन्तु उस ने कभी कोई अनुचित-चेष्टा नहीं की, कोई अश्लील-संकेत नहीं किया। लगता था जैसे वह कोई उदास थकी-हारी आत्मा है, जो नगर से दूर इस बस्ती में आ बसी है। वह उस के एकाकीपन को यथा-सम्भव दूर कर देना चाहती थी।

रजवा की चची उस का महीने का वेतन और इनाम पाकर प्रसन्न थी और रजवा इस वेतन में से एक पैसा लिये बिना, उन्हीं मैले, फटे, जीर्ण-शीर्ण चीथड़ों से (जो बार बार साबुन लगाने पर भी मैल न छोड़ते थे) घर का काम किये जाती थी। उसे अपने खाने, पीने, पहनने, सोने की सुधि न थी। दिन रात वह कवि की सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती थी।

पूरे डेढ़ महीने बाद कवि का स्वास्थ्य सुधरा। इतने दिन जागते रहने और चिन्ता के कारण रजवा का रंग पीला पड़ गया, उस की आँखें कुछ सूज सी गयीं और उन के गिर्द काले गढ़े पड़ गये। फिर भी कवि को स्वस्थ देख कर वह खिल उठी।

जब वह जाने लगी तो कवि ने सहसा उस का हाथ थाम लिया— उस का मुख अभी तक क्षीण था, ओठों पर पपड़ियाँ जमी हुई थीं। और उस की मुस्कान में असीम थकान थी।

"रजवा, तुम ने मुझे बचा लिया। तुम्हारी इस सेवा का बदला मैं इस जीवन में न चुका सकूँगा......"

"आप अच्छे हो गये, मेरे लिए यही बहुत है। मैं बदले में कुछ नहीं चाहती।"

उस दिन कवि ने रजवा को घर न जाने दिया। जब उस की चची आयी तो कवि ने कहा :

"मैं अभी बहुत कमज़ोर हूँ, उठने बैठने की हिम्मत नहीं। अच्छा

हो यदि कुछ दिन और रजवा को यहीं रहने दो" ! और रोग से मुक्ति पाने के उल्लास में उस ने रजवा की चची को बहुत सा पुरस्कार दिया और दस दस के चार नोट उस के हाथ में रख कर कहा कि वह रजवा के लिए नयी धोतियाँ और ब्लाउज़ ला दे।

चची ने धोतियाँ ला दीं और यद्यपि रजवा उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु सम्भवतः कवि को वे पसन्द न आयीं, क्योंकि जब वह बाज़ार जाने योग्य हुआ तो सब से पहला काम जो उस ने किया वह यह था कि रजवा के लिए अच्छे बहुमूल्य वस्त्र ख़रीद लाया।

रजवा वहीं रहने लगी—कवि की सेविका के रूप में। किन्तु सेविका कहाँ, वह तो वास्तव में स्वामिनी थी। न जाने कहाँ से कवि को प्रति-मास तीन सौ रुपया मनीआर्डर से आता था। न जाने उस की कोई सम्पत्ति थी, जिस की आय उस का मुनीम भेजता था? न जाने उस का कोई अभिभावक था, जो उसे प्रति-मास इतना रुपया भेज देता था? रजवा ने कई बार पूछना चाहा, किन्तु उसे कभी साहस न हुआ। यह तीन सौ रुपया कवि प्रति-मास उस के हाथ पर रख देता था और वही सब्ज़ी-तरकारी, आटा-दाल, लकड़ी-कोयले का प्रबन्ध करती। इन दो महीनों ही में उस ने कवि को नये कुर्ते और धोतियाँ ला दी थीं। उस के बिस्तर की चादरें, उस के तकियों के ग़िलाफ़— सब बदल दिये थे। मेज़ों पर नये मेज़पोश बिछा दिये थे और यद्यपि उस ने अपनी चची को प्रति-मास अपना वेतन भी दिया था और यद्यपि उस ने कवि को बताया न था, परन्तु उन रुपयों में से पचास रुपये उस ने बचा कर भी रख लिये थे।

यह सब कुछ था, किन्तु इस के बावजूद रजवा प्रसन्न न थी। एक

विचित्र प्रकार की अज्ञात, अनाम व्यग्रता उसे परेशान रखती थी और यद्यपि वह दिन भर काम करते-करते थक जाती थी, किन्तु रात को जब वह अपने कमरे में आकर, अपनी चारपाई पर लेटती तो उसे नींद न आती। उसे उन दिनों की स्मृति हो आती जब सूखी धरती पर, सूने आसमान के नीचे अथवा किसी आम, जामुन या वट की छाया में, या घड़घड़ाती गाड़ियों का बोझ अपने वक्ष पर उठाने वाले किसी पुल की ओट में वह बेसुध सो जाती थी। इस सुख-वैभव की शान्त-स्निग्धता में भी उसे नींद न आती।

कई बार वह बाहर आँगन में चली जाती थी। शरद्-ऋतु की निखरी-धुली चाँदनी जैसे उसी की भाँति निरर्थक अपना आप जला कर दूसरों को ठंडक पहुँचा रही होती। उस का जी चाहता कपड़े तार-तार कर दे। चाँद की उन उज्जवल-निर्मल किरणों में उस ठंडे फर्श पर लेट जाय। उस हिम जैसे शीत में रात भर लेटी रहे और वहीं पड़ी पड़ी अकड़ जाय। मर जाय। प्रातः जब कवि उसे देखे तो तारों जैसे दो अश्रु-कण उस की आंखों में झिलमिला आयँ।

कई बार वह कवि के कमरे में जगते प्रकाश को एक टक देखती और जब बहुत रात गये वह प्रकाश बुझ जाता तो वह थक कर आंखें बन्द कर लेती, किन्तु वैसे ही कई प्रकाश-कण उस के चारों ओर जलने लगते। जलते और एक दूसरे में समा जाते और फिर उन के स्थान पर, आग की लपटें दमक उठतीं। उन लपटों की तीव्रता क्षण क्षण बढ़ती जाती और उसे अनुभव होता जैसे वह स्वयं एक ज्वाला बन जायगी और फिर सहसा एक ही बार लपक कर बुझ जायगी।

और कई बार जब उसे कवि की पद-चाप सुनायी देती तो वह चौंक उठती। उसे लगता जैसे वह अभी उस के कमरे में आ जायगा। उस के आने की आशा ही से उस का हृदय ज़ोर ज़ोर से धक-धक करने लगता,

परन्तु कवि उस की चौखट के अन्दर कभी न आता। वापस मुड़ जाता और अपने कमरे में घूमता रहता।

और एक साँझ जब वसन्त-ऋतु अपने यौवन पर थी, साँझ ही से पूर्णमाशी का सूर्य जितना बड़ा चाँद बस्ती के नीम की शाखाओं के पीछे से झाँक उठा था और वह काम-काज निबटा कर अपने कमरे में गयी थी कि सहसा कवि की पद-चाप बढ़ कर उस की चौखट तक पहुँच गयी और मधुर-स्वर उस के कानों में रस उँडेलने लगा—"रजवा मन चाहता है यमुना पर चलें। कितनी सुन्दर रात है! तुम्हें आपत्ति तो नहीं।"

रजवा का अंग अंग पुलकित हो उठा था। उस ने उत्तर न दिया, किन्तु नीम के पीछे से निकलने वाले चाँद की पवित्र चाँदनी जैसी स्मिति उस के ओटों पर फैल गयी और वह उठ कर चलने को तैयारी करने लगी।

चाँदनी रात थी। यमुना का शीतल तट था। पानी में दूर तक चाँद का प्रतिविम्ब नदी की लहरों पर सांध्य-समीर के झोंकों से लहरा उठता था। नाव किनारे पर मौन खड़ी थी। वह थी कवि था और रजवा का हृदय सहसा घट उठने वाली किसी सुखद घटना की सम्भावना से धक-धक कर रहा था। किन्तु कवि मन्त्र-मुग्ध सा जैसे उस एकान्त, उस सौन्दर्य, उस स्वतन्त्र उजले-धुले-पवित्र वातावरण को पी सा रहा था। उस की प्यास जैसे अमिट थी। अघाती ही न थी। रजवा के मन में झुँझलाहट सी होने लगी। तभी कवि उस की ओर मुड़ा। रजवा का हृदय धक-धक कर उठा।

किन्तु कवि ने केवल इतना कहा, "रजवा तुम्हें गाना आता है?"

कुछ क्षण रजवा मौन रही। उसे लगा कि शीतल बयार चल रही है। कि नदी की लहरों में चाँद झिलमिला रहा है। कि दूर सामने के तट पर कोयल बोल रही है। फिर वह सम्हल गयी और उस ने कहा, "मेरा गाना क्या, यों ही कुछ गुनगुना लेती हूं।"

"कुछ गाओ!"

रजवा के मन का सन्ताप मिट गया। कितना अनुनय था कवि के इस मधुर, मद-भरे स्वर में! इतने कोमल, सरस अनुरोध पर वह गाते-गाते भोर कर सकती थी और वह गाने लगी—मीरा का गीत।

"मैं तो दरद दिवानी—मेरा दरद न जाने कोय!"

वह गाते गाते तन्मय हो गयी और कवि सुनते सुनते, किन्तु कवि का उद्देश्य जैसे तन्मयता के अतिरिक्त और कुछ न था, क्यों कि जब वह कई गीत गा चुकी और कवि जी भर रात का सौन्दर्य पान कर चुका तो वह उसे लेकर लौट आया।

रजवा यद्यपि थक गयी थी, किन्तु जब वह अपने कमरे में जाकर बिस्तर पर लेटी तो उस के पलक तक भारी न हुए। असीम झुँझलाहट, क्रोध और उकताहट की मिली-जुली लहरियाँ उस के मन-सागर में हलचल मचाने लगीं। उस का सिर चकरा रहा था और कंठ सूखा जा रहा था।

"रजवा देखो मैंने कल रात के दृश्य को अमर बना दिया है।"

चाय की ट्रे मेज़ पर रखते हुए रजवा ने पलक उठा कर कवि की ओर देखा। इस बीच में वह कुछ कुछ समझ गयी थी कि कविता क्या होती है। किन्तु उस की दृष्टि में रंच-मात्र जिज्ञासा भी न जगी। व्यंग से लिपटा हुआ एक शून्य उस की आँखों में से झाँकता रहा।

अपने आवेश में कवि ने उस शून्य की वास्तविकता को नहीं जाना। जब वह चाय को प्याले में ढालने लगी तो वह कविता सुनाने लगा।

रात के अमर सौंदर्य को, लहरों के मद-भरे नृत्य को, नदी के शीतल भीगे तट को, चाँद और चाँद जैसी सुन्दरी के सामीप्य को कवि ने शब्दों का लिबास पहना दिया था। अभिलाषा उस कविता में जागती थी, किन्तु प्रकृति की उस विस्तीर्ण-पवित्रता में वह निरर्थक, तुच्छ और हेय प्रतीत होती थी। वह चाहता था जैसे चाँद को देख रहा है, उससे प्रेरणा पा रहा है, उसी प्रकार चाँद सी उस मोहिनी को देखे, उस से दीप्ति पाये; पवित्र अमर सृजनात्मक दीप्ति! और अमर अनश्वर गीत लिखता चला जाय!

किन्तु रजवा ने जैसे कुछ नहीं सुना, कुछ नहीं समझा। एक प्रश्न—जटिल, ग्रंथिल, दुर्बोध—उस के मन में झुँझलाता रहा और जब कविता सुना कर एक विचित्र उल्लास से प्याला मुँह से लगाते हुए कवि ने कहा, "रजवा यह कविता मैंने तुम पर लिखी है। मैं चाहता हूँ, तुम सदैव मेरे पास रहो और तुम से प्रेरणा पा कर मैं अमर गीतों का सृजन करता रहूँ।" तो रजवा के मन के प्रश्न को शब्द मिल गये।

"तो क्या तुम ने मुझे केवल इसी लिए रख छोड़ा है?" उस का स्वर काँप रहा था।

कवि को सहसा इस का उत्तर न सूझा। चाय की चुस्की लेते हुए उस ने केवल इतना ही कहा, "यह ठंडी हो गयी है।"

परन्तु उस समय रजवा को जाने क्या हुआ? एक प्रचंड-तूफ़ान उस के मस्तिष्क में उठा। आकृतियां, प्रश्न, जीवन की यथार्थ समस्याएँ—सब कुछ जैसे तृण-वत उस में उड़ चले। उस के मस्तिष्क के आकाश पर अँधेरा छा गया। वह ट्रे हाथ में लिये हुए उठी, अपने कमरे में

लाकर उस ने उसे पटक दिया और जल्दी-जल्दी वह अपने नये कपड़े उतारने लगी।

दस, पन्द्रह मिनट तक जब वह न आयी तो चकित सा होकर कवि रसोईघर में पहुँचा। रजवा वहाँ न थी। वह उस के कमरे में गया। खिड़की में ट्रे रखी थी, फ़र्श पर कपड़े बिखरे हुए थे और उन पर पचास रुपये के नोट और कुछ पैसे बिखर रहे थे।

थकान

श्री युत
उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

१२

"आख़िर बात क्या है ? आप बोलते क्यों नहीं ?" हरि की पत्नी ने तीसरी बार उसे बुलाने का असफल-प्रयास करते हुए, उसे तनिक अपनी ओर खींच कर कहा।

हरि ने उत्तर नहीं दिया। सामने, आँगन की दीवार के साथ, वर्षों से अचल खड़े वट की ओर वह एक टक देखता रहा। उस ने सिर्फ़ इतना कहा :

"तुम ज़रा चाय बना लाओ लीला, मेरी तबीयत ठीक नहीं।"

"मैं अभी तैयार कर लाती हूँ चाय"—उस की पत्नी ने निर्निमेष अपने पति के क्लान्त मुख की ओर देख कर, स्नेहार्द्र स्वर में कहा!—वह क्यों इतना दुर्बल हो गया है? उस का मुख क्यों पीला सा पड़ गया है ! न जाने वह क्या सोच रहा है ! वट के पेड़ की निस्पन्द शाखाओं में जाने उस के कौन से अरमान अटक गये हैं !— एक लम्बी सांस लीला के अन्तस्तल को चीर कर निकल गयी—वह क्यों उस के

जीवन में आ गयी !—और एक विचित्र करुणा तथा सहानुभूति से भर कर अपने पति के लम्बे बिखरे बालों को सुलझाते हुए उस ने सहसा उसे चूम लिया। हरि निष्प्राण सा लेटा रहा। लीला ने उस का तकिया ठीक किया और चाय बनाने चली गयी।

पत्नी के उस चुम्बन से एक ठंडी सी सिहरन हरि की नस नस में दौड़ गयी। लिजलिजी छिपकली ने जैसे उसे छू लिया हो। उस की आँखों के सामने कई ऐसे क्षण घूम गये जब उस के ओठ दूसरे ओठों से मिले थे और ठंडी सिहरन के बदले आग सी उस की नस नस में दौड़ उठी थी।

उस ने देखा, एक छोटा सा कमरा (जो बहन ने अपने भाई की पढ़ाई के विचार से उस के लिए रिज़र्व कर दिया था) कोने की मेज़ पर करीने से चुनी हुई पुस्तकें, लाल नीली पेंसल, पास में रखे कुछ मोतिया के फूल (जो बहन पूजा के बाद भाई के लिए रख जाती थी) और पलँग—

इसी पलँग पर तकिये के सहारे आधा लेटा वह एक पुस्तक में तन्मय था—स्निग्ध कमरे में गुदगुदे बिस्तर पर लेटे लेटे उस के मन में भी गुदगुदी सी हो रही थी। तभी उसे कुछ ध्वनि सी सुनायी दी। सामने की दीवार में एक छोटा सा ताक था, उस ने देखा, उस ताक की एक ईंट हिल रही है। दूसरे क्षण किसी ने वह ईंट उठा ली। और उस झरोखे में दो चंचल आँखों ने झाँका। ज्यों ही उस ने उस ओर देखा, झट से ईंट वहाँ आ गयी और वह झरोखा बन्द हो गया।

यह झांकी कई दिनों तक उस के मस्तिष्क में घूमती रही और कल्पना ही कल्पना में वह कई बार उन झाँकती हुई चंचल आँखों को देखता रहा।

फिर उस के सामने वह दिन आया जब उस ने अपनी बहन के पास ही पड़ोस की एक लड़की को बैठे देखा। दो चँचल आंखें उस की ओर उठीं। उस का दिल धक् से रह गया। ये तो वही आँखें थीं—वही विद्युत की भांति कौंद कर छिप जाने वाली आँखें!—यौवन के उन उन्मद क्षणों में उस ने चाहा था कि वह उस लड़की को आलिङ्गन में लेकर, उसकी ठोड़ी ऊपर उठा, उस की आँखों में झाँके। ऐसे कि उस दृष्टि के भार से उस के पलक बन्द हो जायँ, वह उन बन्द पलकों को चूम ले—ऐसे कि वह स्वयं ही मन्त्र-मुग्ध कबूतरी सी उस की गोद में आ गिरे......पर वह सिर्फ नीची नज़र किये उस के पास से निकल गया था।......

उस ने देखा—वट की अचल शाखाओं में वह ईंट हिल रही है, हिलते हिलते एक दम विलुप्त हो गयी है और वहाँ वही झरोखा बन गया है—यह झरोखा उन्हें एक दूसरे के कितना समीप ले आया था। वह जैसे उन दोनों का साथी था और उन के समस्त भेदों का साझीदार!

उन के मध्य दीवार थी—ईंट चूने की निर्मम दीवार! पर क्या यही दीवार उन के मध्य थी? इस दीवार के अतिरिक्त अन्य 'दीवारें थीं—रीति-रिवाज, जाति-पांति, आचार-व्यवहार, की क्रूर-कठिन दीवारें! जिन पर समाज प्रहरी बना खड़ा था......पर यह झरोखा......

उस के सामने उस झरोखे के पार दो अतृप्त ऊष्ण ओठ उठे थे। जिस प्रकार समुद्र की लहर को दूर से आते देख कर दिल में एक गुदगुदी सी उठती है, इसी तरह उन प्यासे ओठों को अपने समीप आते हुए देख उस का शरीर गुदगुदा उठा था। वे पतले गुलाबी ओठ तनिक खुले थे, शायद कुछ कहने के लिए, पर उस ने 'अपने तपते ओठ उन पर रख दिये थे।

और अभी उन के ओठ मिले भी न थे कि उस का सारा शरीर

झुनझुना उठा था। एक विचित्र पुलक उस की नस नस में भर गया था। दीवार के साथ बिलकुल सट कर, बड़ी कठिनता से, उन के ओठ छू पाये थे। इस हल्के से स्पर्श से उस के सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गयी थी और उस का मन चाहा था कि इस दीवार को एक ही धक्के से तोड़ दे और उन के वक्ष भी उन के ओठों की भांति मिल जायँ।

तब उस ने सोचा था, अपनी बहन से कहेगा कि उसे तो वह लड़की पसन्द है और उस के साथ सगाई हो जाय तो उसे कोई आपत्ति न होगी। पर जीवन की नदी और उस की उत्ताल तरंगे!......वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया और एक बार की बिछुड़ी वह लड़की— पता भी न चला किस घाट, किस किनारे जा लगी!

एक लम्बी सांस उस के अन्तर की गहराई से निकल गयी! उस ने करवट बदली। सामने आँगन के एक ओर फूलों के दो गमलों के मध्य मकड़ी ने जाला बुन रखा था। एक भुनगा कहीं से उड़ता उड़ता उस में आ फँसा। त्वरित-गति से मकड़ी उसे तारों की बेड़ियों में जकड़ने लगी। जब वह निश्चल हो गया तो अपने लम्बे लम्बे पञ्जों में पकड़ अपना रक्त-पिपासु मुख मकड़ी ने उस पर रख दिया। वहीं लेटे लेटे उस के सामने उस जाले पर श्वेत सिल्क की हरे किनारे की साड़ी, हरे चैक का ब्लाउज़ और हरे-श्वेत सैंडल पहने, अतीव आधुनिक वेष-भूषा में आवृत एक मँझले कद की लड़की का चित्र खिँच गया, जिस के इर्द-गिर्द कभी उस ने जाल बुनने का प्रयास किया था।

वह उस के कालिज में, उस की ही क्लास में पढ़ती थी। उस के लिए वह सदा दूर ही की वस्तु रही थी। मृग-मरीचिका सी। जिस के पीछे चाहे कितना भागा जाय, पर जो सदा दूर ही होती जाय! इसी लिए उस ने कभी उस के पीछे भागने का प्रयास ही न किया था। देख कर

यदि प्यास तीव्र हो उठती, तो वह उस के पीछे भागने के बदले, रुक कर सपनों के पानी से कंठ गीला कर लेता था। पर एक दिन वह मृग-मरीचिका अचानक उस की पहुँच में आ गयी थी। दर्शन-शास्त्र की पुस्तक खोले, उस के निकट खड़ी वह कह रही थी, "कृपया, यह प्रश्न समझा दीजिए। प्रोफेसर साहब ने मुझे आप के पास भेजा है।"

वह चकित सा रह गया था।

क्लास में वह दर्शन-शास्त्र का पण्डित माना जाता था। जब कभी छात्र प्रोफेसर गुप्ता से कुछ पूछने जाते, वे सदैव उन्हें उस के पास भेज देते। उस की योग्यता के कारण न केवल उस के सहपाठी वरन् उस के अध्यापक तक उसे आदर की दृष्टि से देखते।

उस ने वह प्रश्न उसे भली-भाँति समझा दिया था। दूसरे के लिए दर्शन-शास्त्र की गुत्थी सुलझाने में इतनी दिलचस्पी उस ने कदाचित् पहली बार हो ली थी और कदाचित् अपनी समस्त विद्वत्ता को प्रयोग में लाने का भी पहला ही अवसर उसे मिला था।

"मैं दर्शन-शास्त्र में कुछ पीछे हूँ।" प्रश्न समझने के बाद उस ने कहा था, "मुझे इस में रुचि न हो, यह बात नहीं, मैं आरम्भ ही से इस में पीछे हूँ, यह बात भी नहीं। भाई की बीमारी के कारण मैं बहुत दिन कालेज नहीं आ सकी। इसीलिए पिछड़ गयी हूँ। यदि कुछ दिन मुझे पथ-प्रदर्शन मिले तो चल निकलूँगी।"

और उस ने इस कष्ट के लिए कृतज्ञता प्रकट की थी।

हरि ने उसे विश्वास दिलाया था कि जहाँ तक हो सका, वह उस की सहायता करेगा। "मेरा रास्ता आप के घर की ओर ही से पड़ता है," उस ने कहा था, "मैं संध्या को समय निकाल कर आप को थोड़ा बहुत बताने का प्रयास करूँगा। निश्चय रखिए आप क्लास के साथ ही न आ जायँगी, उस के आगे भी बढ़ जायँगी।"

और वह निरन्तर उसे पढ़ाने जाता रहा था। उसे पढ़ाने का उसे इतना ध्यान था कि छुट्टी के दिन भी उस के यहाँ चला जाता। पढ़ने और पढ़ाने वाले में जो दूरी होती है, धीरे धीरे वह घटती गयी थी। वह उस के साथ सैर, सिनेमा, तमाशे भी गया था; चाँदनी रातों के एकान्त में नीम की छिदरी छायाओं में भी घूमा था; उस के जलते ओठ उस के संकुचित पर गर्म ओठों से भी मिले थे और ऐसा आभास उसे मिला था कि शायद जीवन में इस से परे कोई सुख नहीं। अपनी विद्वत्ता, योग्यता तथा सहृदयता के सहारे वह बड़े कौशल से उस के इर्द-गिर्द जाल बुनता जा रहा था। पर न जाने तारों में कौन सी कमजोरी रह गयी थी कि वह उस के जाल में आकर भी निकल गयी। कुछ दिन बाद उस ने सुना कि वह एयर-फ़ोर्स के एक ऊँचे पदाधिकारी की पत्नी बन कर जा रही है।

एक दीर्घ-निश्वास उस के अन्तर से निकल गया। पर जाल वही बुनता रहा हो, ऐसी बात न थी। उस के गिर्द भी जाल बुना गया था।

"आप के इस अनुग्रह के लिए मैं आभारी हूँ—आशा है आप इसी तरह हमारा उत्साह बढ़ाते रहेंगे।"

निस्बत रोड़ के एक प्राइवेट स्कूल में वह छात्राओं को प्रबन्ध-कला पर भाषण देने के बाद मस्तक का पसीना पोंछ रहा था कि उस के कानों में उस की मादक-ध्वनि ने रस उँडेला। उस का गेहुँआ रंग कुछ क्षणों के लिए लाल हो गया था और क्षण भर हरि की ओर देख कर उस की आँखें झुक गयी थीं।

वह उस पाठशाला की मुख्याध्यापिका थी और यही उन की पहली भेंट थी। धन्यवाद का उत्तर देकर तथा आवश्यकता पड़ने पर फिर

सेवा के लिए उपस्थित होने का वादा कर के वह चला आया था। वह उसे भली-प्रकार देख भी न पाया था। और जब एक दिन वह उस के घर आ पहुँची थी तो उसे आश्चर्य भी हुआ था। पर तब वह उस से अच्छी तरह मिला था और उसी दिन वह उसे अच्छी तरह देख भी सका था—गेहुँआ चमकता रंग, सुगठित सुकोमल देह, पतले गुलाबी ओंठ.....पर उस की आँखें......उन से एक कुछ छोटी थी और इसी कारण वह सुन्दर होने पर भी कभी कभी उसे असुन्दर लगती थी—वह तीन चार घन्टे ठहरी थी। इस बीच में वह कई बार उसे सुन्दर और कई बार असुन्दर लगी थी। वह अपने मन में सोचता रहा कि यदि इस की आँखें भी सुन्दर होतीं......यदि दोनों छोटी ही होतीं, या दोनों बड़ी बड़ी होतीं.........और वह उसे पसन्द न कर सका था। हाँ, उस के मन में उस के प्रति कुछ स्नेह-भाव अवश्य उत्पन्न हो गया था। पर तब अपने भावों का विश्लेषण वह न कर सका था।

उस के बाद वह प्रायः हरि के पास आने लगी थी—पहले-पहल कोई न कोई बहाना करके और फिर केवल मिलने के लिए ही। यहाँ तक कि वह आती तो घन्टों बैठी रहती। हरि की भाभी, बहन और मां से भी उस ने घर का सा नाता बना लिया था और वे उसे नापसन्द न करती थीं।

घन्टों बैठी वह इधर-उधर की बातें करती रहती और यद्यपि उस ने कभी यह न कहा था कि वह हरि को चाहती है या प्यार करती है, पर उस की दृष्टि और उस दृष्टि के प्रत्येक कम्पन से स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह हरि को अपना सर्वस्व समर्पण कर चुकी है।

हरि की हर बात का वह ध्यान रखती। उस की आवश्यकता की चीज़ों, उस के कपड़ों, उस के स्वास्थ्य, सभी की चिन्ता करती। आती तो हरि की मेज़ पर बिखरी हुई चीज़ों को ढङ्ग से सजाने लगती, उस के

बक्स में पड़े कपड़ों को देखती, बटन टाँक देती, सी देती। मानो उस से पहले हरि का कमरा कभी सजा-सँवरा ही न था और वह बिना बटन के फटी क़मीज़ें ही पहनता था और सदैव बीमार रहता था।

एक दिन उस ने देखा कि हरि के कमरे की गद्दियाँ फट सी गयी हैं। तीसरे ही दिन सुन्दर से कपड़े की बनी पूरी दस गद्दियाँ उस के सोफे और कुर्सियों की शोभा बढ़ाने लगीं। फिर हरि के ट्रंक में थोड़े कपड़े देख कर वह उस के लिए कई कमीज़ों का कपड़ा ले आयी। हरि कभी कभी धोती बड़े चाव से पहनता था। इसी लिए शान्तिपुर की बारीक किनारे की दो धोतियाँ भी लाना वह न भूली। हरि ने उसे मना किया। समझाया कि वृथा रुपया नष्ट न करना चाहिए। बताया कि उस के पास कपड़े तो बहुत हैं, धोबी के पास होंगे। पर वह न मानी थी। सब कपड़े उस के ट्रंक में रख गयी थी। इस पर हरि की भाभी ने हँस कर कहा था, "तुम्हें तो सोने की चिड़िया मिल गयी हरि, नयी गद्दियाँ, नये कपड़े.........!" वह और कुछ कहती, पर हरि हँसता हुआ बाहर निकल गया था।

ये सब बातें हरि को उस के समीप ले आयी थीं और उन में कोई भेद-भाव न रहा था। एक ही चारपाई पर वे इकट्ठे बैठे, लेटे और सोये। उन के वक्ष और ओठ भी मिले और उन की सन्निकटता समाज की बनायी सीमा को पार करते करते लौट आयी। कई बार आवेग के क्षण में उस ने एक ही बार उस सीमा को लाँघ भी जाना चाहा था.........पर वह उस को पत्नी के रूप में न लेना चाहता था। वह उस से घृणा करता हो, यह बात न थी, पर उस का प्रेम उस के अपने अहम् की पूर्ति तक ही सीमित था। वह उसे इतना चाहती है—इस बात से वह प्रसन्न था और उस के पहले असफल प्रेम ने उस के हृदय में जो घाव लगाये थे, इस प्रेम से उन्हें ठंडक पहुँचती थी। उस का हृदय गर्व से फूल उठता

था और अपने अहम् की तृप्ति के इस साधन को वह बनाये रखना चाहता था.........किन्तु जाल धीरे धीरे उसे जकड़ रहा था। वह जैसे भी हो उसे अपने जाल में फाँस लेना चाहती थी। ऐसे कि फिर वह किसी प्रकार निकल न सके। इस के लिए वह सब तरह से तैयार थी—विवाह से पहले माँ बनने के लिए भी।......और हरि घबरा उठा था......इस सन्निधि का परिणाम!......यदि वह इस दम घोंटने वाले जाल में सच मुच फँस गया और बाहर निकलने का कोई मार्ग न ढूँढ़ पाया......कहीं इस जाल के तारों में उलझ गया तो......

तभी हड़बड़ा कर एक दिन उस ने अपने बड़े भाई से कहा कि उस का विवाह कर दिया जाय और शीघ्र ही कर दिया जाय। उस से नहीं। कहीं और। किसी सुन्दर सुशिक्षित लड़की के साथ!

और कुछ दिन बाद ही उस के भाई ने उस की सगाई पक्की कर दी थी। उस को बहन तथा भाभी ने बताया कि लड़की बेहद सुन्दर है। सुशिक्षित, सुसंस्कृत है। यह भी कहा था कि उस लड़की का एक एक अंग जैसे साँचे से ढल कर बना है और उस में ऐसी मोहिनी है कि मन आप से आप खिँचा चला जाता है। यह सब जान कर वह प्रसन्न था। उस का मन अपने भाई, बहन तथा भाभी के प्रति कृतज्ञता से भर गया था।

"लीजिए" उस की पत्नी ने चाय का प्याला उस की ओर बढ़ा दिया।

उस ने धीरे से उठ कर प्याला थाम लिया। विचारों का क्रम जारी रहा।

उस के सामने गाड़ी का एक सैकेंड क्लास का डिब्बा आ गया। उस के साथ सीट पर झिलमिलाते लाल वस्त्रों में आवृत्त सिकुड़ी और

लजायी नव-वधू बैठी थी। सामने की सीट पर एक मोटी थलथल पिल-पिल महरी नव-वधू की ओर स्नेह-सिक्त दृष्टि से देख रही थी। हरि चुप-चाप बैठा सोच रहा था कि किस प्रकार उन सुन्दर वस्त्रों में आवृत सुन्दरी को देखे। उस का मन बेतरह उतावला हो रहा था। परवह काली मोटी महरी......उस के मन में आया कि उस से कह दे, दूसरी तरफ़ बैठ जाओ! पर......सहसा स्टेशन आ गया और गाड़ी रुकी तो वह महरी दूसरी ओर खिड़की में चली गयी। सम्भवतः उस ने हरि की भाव-भंगी से कुछ जान लिया हो। यद्यपि सन्ध्या का अँधकार गहरा हो गया था, बाहर कहीं इक्के दुक्के वृक्ष अथवा बिजली के खंभों के सिवा कुछ और दिखायी न देता था, पर महरी अपने भारी शरीर को लगभग आधा बाहर किये निरन्तर बैठी रही, मानो उस मनोरम दृश्य से उस की निगाहें हटने का नाम न लेती हों।

अब हरि और न रह सका। उस ने अपनी पत्नी का घूँघट उठा दिया—घर वालों से उस की सुन्दरता की बातें सुन सुन कर वह उसे देखने व पाने को अत्यन्त आतुर था। उस के मन-मस्तिष्क पर नीना, कान्ता, शीला, रमा और न जाने किस किस की सुन्दरता से मिला जुला एक अत्यन्त सुन्दर चित्र बन गया था। इस चित्र के सामने उन सब के चित्र धुँधले पड़ गये थे और उन्हें पाने की असफलता उसे ज़रा भी न खटकती थी। वह तो प्रसन्न था कि अच्छा ही हुआ जो उस का विवाह यहाँ हो रहा है। यह तो उन सब को मात कर देगी पर......उस की दृष्टि नव-वधू की लम्बी नाक पर पड़ी, वह सन्न सा रह गया। उस की पत्नी की बटनों जैसी आँखें निमिष मात्र के लिए उठीं और हरि की आँखों से मिल गयीं। सन्ध्या के गहरे अँधेरे में उस का रंग भी साँवला सा लगा। सहसा घूँघट उसके हाथ से छूट गया और उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे गाड़ी थम गयी है—गाड़ी क्या, समस्त जीवन की गति जैसे थम गयी है—और अब उस में कभी हरकत पैदा न होगी।

एक मरुस्थल सा उस के सामने आया—विशाल विस्तीर्ण मरुस्थल ! वह कब से इस में भटकता आ रहा है, पर उसे कहीं भी तो ऐसा स्थल नहीं मिला जिस की हरियाली से उस की आँखें ठंडी हो जायँ। और अभी इस का कुछ अन्त ही नहीं......

एक लम्बी साँस उस के अन्तर की गहराइयों से निकल गयी।

चाय की प्याली ख़त्म हो गयी थी। उस ने चुपचाप उसे पास बैठी अपनी पत्नी की ओर बढ़ा दिया। उस की पत्नी ने खाली प्याली मेज़ पर रखते हुए पूछा :

"क्या आप की तबीयत बहुत ख़राब है ?" और साहनुभूति से ओत-प्रोत होकर, स्नेह के आवेग से उस ने हरि के बालों में अपनी उंगलियों से कंघी करते हुए उसे एक बार फिर चूम लिया।

निम्मो

१६४२ के अगस्त में जब भारत के आकाश में कांग्रेस के सम्भावित प्रस्ताव और उस के सम्बन्ध में सरकार की सम्भावित नीति के कारण अशान्ति की छाया मँडरा रही थी, कोहाट के एक दूरस्थ सैनिक कैम्प में बैठे हुए एक युवा सैनिक के मन की दुनिया पर भी अशान्ति के बादल घिर आये थे और जब बड़े-बड़े नेता देश के भावी जीवन की समस्या सुलझाने में निमग्न थे, वह अपने जीवन की भावी उलझनों को सुलझाने के असफल प्रयास में व्यस्त था।

उस समय जब शायद कांग्रेस का प्रस्ताव लिखा जा रहा था, वह अपने पत्रों का वह क्रम आरम्भ कर रहा था जिस ने उस के मन की दुनिया में उसी प्रकार हलचल मचा दी, जिस प्रकार ६ अगस्त के प्रस्ताव ने समस्त देश भर में।

दो धारा

कोहाट

प्रिय निम्मो,

सहसा इस कल्पनातीत स्थान से मेरा पत्र पाकर तुम चकित हो जाओगी, किन्तु इतनी दूर चले आने का साहस मैंने किस प्रकार किया, इस बात पर मैं स्वयं हैरान हूँ।

उस दिन एक ज़रा-सी बात पर तुम मुझ से नाराज़ हो गयीं। नाराज़ तो पहले भी कई बार तुम हुई हो, किन्तु उस दिन तुम्हारी वाणी में ऐसी कटुता थी जो मेरे हृदय को भेदती हुई चली गयी। तुम्हारी वाणी के उस तीर ने जैसे मेरे पाँव उखाड़ दिये और वह मेरे हृदय को बेध कर अपने पूरे वेग से मुझे यहाँ उड़ा लाया। उस क्षण जब तुम ने मेरे सरल स्वाभाविक व्यवहार पर इतने कटु शब्द कह डाले, तो मन ऐसा उचाट हुआ कि महज़ तुम्हारी आँखों से दूर होने पर ही न माना, वरन् जिस नगर में तुम रहती हो, वहाँ रहना भी उस के लिए दुष्कर हो गया। तुम्हारे उन कटु वाक्यों ने मेरे मन के, न जाने किन स्तरों में सोयी हुई आँधी को जगा दिया और अब, जब आँधी का वेग शान्त हो गया है, मैं अपने आप को तुम से योजनों दूर यहाँ पा रहा हूँ।

सोचता हूँ—क्या जो तुम ने उस दिन कहा था, वह तुम्हारे अन्तर की आवाज़ थी? विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि वह सब तो केवल तुम्हारे रूढ़ि-ग्रस्त-मस्तिष्क का तर्क-वितर्क था, जो तुम्हारे हृदय की सरिता के नैसर्गिक प्रवाह को प्रायः रोक दिया करता है। अपने मानस के नैसर्गिक प्रवाह को तुम अपनी रूढ़ियों से जकड़ी हुई बुद्धि से रोकना चाहती हो। जब ऐसा करने में असफल रहती हो तो खीझ उठती हो। यद्यपि मन में तुम मेरे विचारों से सहमत हो; वैसा ही अनुभव करती हो; वैसा ही करना चाहती हो; मेरी सभी बातों को ठीक समझती हो,

परन्तु ऊपर से कभी नहीं मानतीं। तुम साहस बटोरती हो, पंख तोलती हो, चाहती हो कि एक ही उड़ान में, आकाश में स्वच्छन्द होकर मेरे संग उड़ पाओ। किन्तु तुम्हारी बुद्धि के पाँवों में पड़ी हुई संस्कारों और रूढ़ियों की बेड़ियाँ तुम्हें सहसा रोक लेती हैं। घरवालों का, दुनिया का सामना करने की हिम्मत तुम में नहीं होती और जो थोड़ा-बहुत साहस बटोरती हो वह तुम्हारा साथ छोड़ जाता है।

मैं स्पष्टवादी हूँ और मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि मैं जीवन में विश्वास रखता हूँ। जी भर उसे जीना चाहता हूँ। जीवन के प्याले की तलछट तक पी जाना चाहता हूँ। तुम जीवन की उपेक्षा करती हो और इस उपेक्षा पर कुढ़ती हो। इसी से मैं अपनी समस्त चेष्टाओं के बावजूद तुम्हें प्रसन्न करने में असमर्थ रहा हूँ।

मैंने सोचा था—अब तुम्हें कभी पत्र लिख कर तंग न करूँगा, पर अब जब उन समस्त बीते दिनों को याद करता हूँ तो न केवल यहाँ भाग आने पर दुख होता है, वरन् इतनी देर तक पत्र न लिखने के खेद से मन अकुला जाता है। सैनिक जीवन में उतना अवकाश नहीं। वास्तव में यह सैनिक जीवन की व्यस्तता ही थी जिस से मेरे उन हताश क्षणों में मुझे अपनी ओर खींचा। काम करने से मैं डरता नहीं, किन्तु मैं काम के कारण ही व्यस्त न रहना चाहता था। व्यस्त मैं रहना चाहता था शान्ति के लिए—मानसिक शान्ति के लिए! वह भी इतना कि मुझे अतीत की मधु-विष-मिश्रित स्मृतियों में से कोई भी आकर न सताये।

पर निम्मो, मैं असफल रहा हूँ। यदि सैनिक जीवन वैसा ही होता जैसा कि मेरी कल्पना में था, तो मैं कब का तुम्हें भूल चुका होता और पत्र लिखने की नौबत न आती। व्यस्त तो यह जीवन है, किन्तु इस व्यस्तता में भी एक अवकाश-सा रहता है, जिस में सदा भूत, भविष्य और वर्तमान के चित्र बन-बनकर मिटते रहते हैं और इस समस्त व्यस्तता

के बावजूद मनुष्य विस्मृति का शिकार बनने की अपेक्षा अधिकाधिक चैतन्य रहता है।

सैनिक कठोर जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु जहाँ तक मैंने उन्हें जाना है, वे मन को कठोर नहीं बना पाते। उन के कृत्यों पर, कर्मों पर, कठोरता और क्रूरता का अभेद्य-आवरण चढ़ा रहता है, किन्तु यदि उस आवरण को हटाकर कहीं उन के अन्तर को टटोला जाये तो मानव-सुलभ वेदना-व्यथा सुख-दुख कहीं न कहीं सिकुड़े दबे अवश्य मिल जायँगे। मौत और खून की होली खेलने वाले, बाहर से क्रूर और निर्मम दिखायी देने वाले सैनिक प्रायः अपने वक्ष में साधारण लोगों ही सा कोमल हृदय रखते हैं। उस हृदय में अरमान और उन अरमानों में दर्द भी होता है। और उन की आँखों के आँसू भी युद्ध के आतप से सूख नहीं जाते। सैनिक जीवन की इन दुर्बलताओं और भावनाओं की वास्तविक अनुभूति मुझे यहाँ आकर मिली है और इसी कारण जिस उद्देश्य को लक्ष्य करके मैंने यह जीवन अपनाया था, उसे पूरा करने में मैं अपने को सर्वथा असमर्थ-सा पा रहा हूँ। अब जब मैं इन सब बातों पर विचार करता हूँ तो मन बरबस तुम से यह सब कुछ कह देने को आतुर हो रहा है।

निम्मो, तुम व्यर्थ ही अपने आप से युद्ध कर रही हो, मैं व्यर्थ ही अपने आप से भाग रहा हूँ। क्यों न हम अपनी नैसर्गिक भावनाओं पर से बन्धन उठा लें। उन्हें स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे से मिल जाने दें? तुम मुझ से कन्नी न काटो, मैं तुम से दूर न भागूँ। मिथ्या रूढ़ियों को मिटाते हुए हम नये मार्ग बनायँ, नये संसार का सृजन करें?

आती बार मैं तुम से विदा भी न ले सका। मैं जानता हूँ तुम मुझे कभी भी न आने देतीं। चाहे तुम मुझे स्वीकार न करतीं, चाहे तुम्हारे संस्कार और झूठे बन्धन (जिन से तुम ने अपने आप को जकड़ रखा

है) तुम्हें मुझ को स्वीकार करने की आज्ञा न देते, पर मुझे यों तज देना भी तुम्हें गवारा न होता।

इस समय मैं बड़ा व्यथित हूँ निम्मो, मुझे आशा है तुम मुझे उत्तर देकर मेरी इस व्यथा को हल्का कर दोगी।

प्यार से तुम्हारा
जुगल

कोहाट

निम्मो,

कुछ दिन हुए मैंने तुम्हें एक लम्बा पत्र लिखा था, मुझे आशा थी तुम्हारा उत्तर वापसी डाक से आयेगा। सोचा था, तुम्हें मेरा इस प्रकार चला आना बुरा लगा होगा; तुम्हें मेरे पत्र की प्रतीक्षा होगी; तुम्हें उस दिन की घटना का दुख होगा और मेरा पत्र पाते ही तुम उत्तर दोगी। किन्तु मालूम होता है कि अपने हृदय को पत्थर बनाने का अभ्यास तुम ने पर्याप्त रूप में कर लिया है। शायद मैं अब तक तुम्हें ग़लत समझता रहा हूँ। उत्तर देना तो मात्र शिष्टता का चिन्ह है निम्मो और इतनी सभ्य हो कर भी तुम ऐसा नहीं कर सकीं, इस का मुझे दुख है।

लाहौर की भीड़-भाड़ और शोर-गुल में से आकर यह जीवन एकदम शुष्क और निस्तब्ध-सा लगता है। यहाँ का समस्त वातावरण विरस और दम घोंटनेवाला है। यहाँ एक तरह का 'आफ़ीशलडम' छाया रहता है, अफ़सर अपने आप को अफ़सर साबित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखते और जो साथी हैं वे बौद्धिकता से एकदम शून्य हैं। उन की दिलचस्पियों का घेरा अत्यन्त परिमित है—औरत, शराब और जुआ

बस इन्हीं तीन बिन्दुओं के गिर्द वे घूमते रहते हैं। अकसर मेरा दम इस कदर घुटने लगता है कि चाहता हूँ एक ही बार इस सारे वातावरण से दूर भाग जाऊँ। पर कहाँ ? जब यह सोचता हूँ तो चुपचाप बैठ जाता हूँ— उस झाग की तरह जो उबाल के साथ-साथ उठती है, किन्तु पानी का छींटा लगते ही चुप हो फिर बैठ जाती है।

साधारणतः हम दिन भर अपने खेमों में काम करते हैं। शाम ही को बाहर निकल पाते हैं। पर शनि और इतवार तो हमारे अपने ही दिन होते हैं। इन दिनों हम प्रायः पाँच बजे तैयार हो जाते हैं और फिर आधी रात से पहले बिस्तर देवता के दर्शन नहीं होते। यह तो साधारण शनि और इतवार की रातों का ज़िक्र है, पर यहाँ 'गैस्ट नाइट्स' (अतिथि-रात्रियाँ) भी होती हैं और उन रातों को यदि कोई रात के तीन बजे तक लौट आये तो उसे भाग्यवान् समझना चाहिए।

सप्ताह में एक बार, बुध के दिन 'गैस्ट नाइट' होती है। इसे 'बैंड नाइट' भी कहते हैं, क्योंकि रात का खाना खाते समय निरन्तर बैंड बजता रहता है। हमारा कर्नल उन रातों हमारे साथ सम्मिलित होता है और खूबी यह है कि वह जी भर पीता है, बातें करने का एकाधिकार भी वह अपना ही समझता है और हम सब चुपचाप मुँह बाये बैठे सुनते रहते हैं और कभी प्रशंसा के रूप में दाँत निपोड़ देते हैं।

खाने के बाद सब सम्राट् के स्वास्थ्य का जाम चढ़ाते हैं—चार प्रकार के पेय सब के सामने आते हैं—पहले पोर्ट, फिर मडीरा फिर ह्विस्की और अन्त में पानी—जिस को जो पसन्द हो वह उसे चुन लेता है। जब सब के हाथों में पेय आ जाता है तो प्रधान उपप्रधान को सम्बोधित करते हुए उठता है और कहता है—"वाइस दि किंग !" उपप्रधान हम सब को सम्बोधित कर के 'जेन्टलमेन दि किंग' कहकर उठ खड़ा होता है। फिर हम सब खड़े हो जाते हैं और क्षणों में हमारे गिलास

एक-दूसरे से टकराकर खाली हो जाते हैं। लगभग तीन बजे कर्नल लौट जाता है और फिर हमारी यह सभा भी भङ्ग हो जाती है।

हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गया। मेरे एक मित्र का विवाह है और मैं उस की पत्नी को एक अच्छा-सा उपहार भेजना चाहता हूँ। यहाँ पर चीज़ें अच्छी नहीं मिलतीं और न ही उतनी विभिन्नता यहाँ हो सकती है जितनी कि लाहौर में। इस के अतिरिक्त यदि तुम चुन दोगी तो मुझे तसल्ली हो जायगी कि चीज़ अच्छी है। न जाने मैं क्यों तुम पर इतना निर्भर रहने लग गया हूँ? क्या तुम मेरा इतना काम कर दोगी? मैंने सोचा था कि स्वयं विवाह पर आऊँगा, उस दशा में तुम्हें यह कष्ट न देता, पर अब मैंने आने का विचार छोड़ दिया है। चन्द दिनों के लिए इतना व्यय होगा। मुझे व्यय की तो चिन्ता नहीं, पर मुसीबत तो यह है कि लाहौर में मेरा आकर्षण-केन्द्र वास्तव में तुम्हारे सिवा कोई नहीं है और यदि लाहौर आकर तुम्हीं से न मिल पाया तो निराशा, विषाद और आत्म-ग्लानि के अतिरिक्त कुछ हाथ न आयगा! तुम्हारा क्या विचार है? इस विवाह पर आऊँ, अथवा अपने एकाकीपन को लिये हुए यहीं हताश बैठा रहूँ?

तुम जानती हो मुझे शराब से कितनी घृणा है, आज कल जो जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ, वह भी मुझे रुचिकर नहीं, और चन्द दिन के लिए इस जीवन से छुट्टी पाकर मैं कितना प्रसन्न हूँगा, तुम अनुमान लगा ही सकती हो। यदि तुम कहो तो मैं चला आऊँ। मुझे लौटती डाक से उत्तर देना ताकि मैं छुट्टी का प्रबन्ध कर सकूँ।

यदि तुम इतनी दया न कर सको तो कोई उपहार ख़रीद कर भेज दो। यदि तुम दोनों में से एक बात भी न कर सको तो मैं यही कहूँगा कि परमात्मा तुम्हें सुमति दें।

सस्नेह
तुम्हारा दर्शनाभिलाषी
जुगल

दो धारा

लैण्डार्ट

प्रिय निम्मो,

कोहाट में इतनी गर्मी थी, कि मनुष्य पिघला-सा जाता था ! तुम सम्भवतः अपने ठंडे प्यारे कमरे में, पंखे के नीचे इस का अनुमान न लगा सको। इसी गर्मी के कारण अब हम यहाँ आ गये हैं। यह पहाड़ी स्थान है और यहाँ आने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी जलती, तपती भट्ठी से बाहर निकल आये हों। शरीर का ताप तो मिट ही गया है निम्मो, पर मन का ताप नहीं मिटा।

सैनिक इस छोटे से स्थान का भी पूरा लाभ उठाते हैं, खेलों की यहाँ बड़ी सुविधा है—टैनिस, फुटबाल, बास्केट बाल, बैडमिन्टन आदि सभी खेलों का प्रबन्ध है और इस मन के ताप को भुलाने के लिए मैं प्रायः सभी में भाग लेता हूँ। शराब की पार्टियाँ होती ही रहती हैं। हमारे अफ़सर, उन की पत्नियाँ और मित्र सम्मिलित होते हैं और बहुत देर तक बातें होती रहती हैं। एक सिनेमा भी है जिस में सप्ताह में एक बार मौन-चित्र दिखाये जाते हैं। १५-२० वर्ष पुराने चित्र देख कर पुरानी स्मृतियाँ आँखों के सामने घूम जाती हैं, ठीक इन्हीं चित्रों की भाँति निर्मम और मूक !

यहाँ बिजली का एक कारखाना भी है—तारों का एक जाल-सा फैला हुआ है और इसी से लोगों को बिजली पहुँचायी जाती है, किन्तु हमारे कैम्प में किसी निराश विरही के अरमानों की भाँति, धीरे-धीरे जलने वाले, किरासिन-लैम्प ही जलते हैं।

थोड़े ही अन्तर पर आज़ाद क़बीलों के लोग रहते हैं। हमें अकेले बाहर जाने की मनाही है। इस स्थान से होकर एक सड़क जाती है जिस के उत्तर में क़बीले के लोग और दक्षिण में ब्रिटिश इण्डिया है। यद्यपि

ये लोग इतने भयानक नहीं हैं जितने बन्नू के आस-पास के लोग, किन्तु अवसर पाकर कभी वार करने से नहीं चूकते। दो दिन पहले हमारे कुछ साथी बाहर गये थे, वे कठिनता से चार सौ गज़ गये होंगे कि उन्हों ने गोलियाँ चला दीं। हम लोग इस बात को दबा ही गये। तुम्हें तो मिस बकाया ने बहुत-सी बातें बन्नू के विषय में बतायी थीं।

एक बात मैं बहुत देर से सोचता रहा हूँ और वह यह है कि तुम्हें हेड-मिस्ट्रेट किस ने बना दिया— इतनी असभ्य हेड-मिस्ट्रेट— जो उत्तर देने तक का शिष्टाचार नहीं जानती या जान कर भी व्यवहार में नहीं लाती। यदि मैं स्कूलों का इन्स्पेक्टर होता तो तुम अब तक कभी की घर बैठी होतीं— सम्भवतः एक पति की पत्नी और कुछ बच्चों की माँ बन कर!

तुम मुझे प्यार करती हो यह तो तुम मेरे सामने मान ही चुकी हो। तुम न भी मानो तो यह बात छिपी नहीं रह सकती। फिर यह हठ कैसा? अपने आप से न लड़ो निम्मो! इतनी मत तनो! कहो, कुछ तो कहो, इस तरह चुप मत हो जाओ!

तुम्हें याद होगा, एक बार मैं यू० टी० सी० से थक कर आया था तुम्हारे कमरे में, तुम्हारे बिस्तर पर लेट गया था। तुम्हें शायद मुझ पर दया आ गयी, झट से तुम चाय तैयार कर लायीं। बड़े स्नेह से तुम ने मुझे चाय बना कर दी। उस समय ऐसा लगता था जैसे तुम मेरे और अपने बीच के अन्तर को भूल गयी हो। ऐसा लगता था जैसे अनन्त-काल से ही हम इकट्ठे चले आ रहे हैं और हम एक-दूसरे के स्नेह में बँध जाने ही को बने हैं। उस शाम तुम मुझे मूर्तिमान स्नेह लगीं! मैं अभी तक तुम्हारी वह आकृति नहीं भूल सका और उसी दिन मैंने निश्चय कर लिया था कि तुम्हीं मेरे घर की रानी बनोगी और तुम्हारी स्नेह-छाया में ही मैं सच्ची शान्ति पा सकूँगा। तुम मुझे चाय बना कर दे ही रही थीं

कि सहसा तुम्हारे चचा उधर आ निकले। मुझे देख कर उन का चेहरा क्रोध से लाल हो गया, आँखें अँगारा बन गयी और ओठ कुछ कहने को फड़फड़ा उठे, पर सब के सामने वे क्या कहते? उन्हें भाई साहब का लिहाज आ गया होगा। फिर तुम्हारी सहेली कान्ता भी तो वहीं थी। मेरे जाने के बाद उन्हों ने तुम्हें खूब कोसा था। साथ ही बेचारी कान्ता भी पिस गयी थी। तुम ने कई दिन खाना न खाया था और घर तक छोड़ने को तैयार हो गयी थीं—क्या वह प्यार न था?

इस के बाद तुम ने मुझ से वाटिका में मिलना आरम्भ कर दिया था। अपने चचा से झगड़ा होने के बाद, जब तुम पहली बार वाटिका में आयी थीं—वट की घनी छाया के नीचे, उस लाल पत्थर पर बैठ कर अपना सिर तुम ने मेरी गोद में रख कर कहा था—"दुनिया वाले तो अब जीने भी न देंगे, यही सोच-सोचकर मेरा दिमाग़ परेशान हो गया है। तुम मेरे सिर को थाम लो, अपने दोनों हाथों में, ज़ोर से!" और फिर तुम ने कहा था—"अब तो कहीं दूर भाग जाने को मन होता है!" और तुम ने अपने आप को मेरी गोद में ढीला छोड़ दिया था और मैंने तुम्हें चूम भी लिया था। तुम्हारी आँखें बन्द थीं, तुम्हारे बड़े-बड़े पलक कमल की पत्तियों की भाँति उन पर छाये हुए थे, तुम्हारे ओट मेरे ओठों से सटे हुए थे।...... और घरवालों के विरोध के बावजूद तुम प्रायः सैर के बहाने वाटिका में आ जाया करती थीं। वट की छितरी चाँदनी में तुम सुध-बुध खोकर मेरे बाहुपाश में बँध जाती थीं और उस शीतल चाँदनी में हमारे गर्म-जिस्म और गर्म ओठ एक दूसरे से सट जाते थे। क्या तुम इन बातों को भूल सकती हो, निम्मो? क्या वह भी प्यार न था?

तुम्हारे कमरे का जो दरवाज़ा वाटिका में खुलता है। उस का वहाँ होना तुम्हें इतना अखरता था कि तुम ने अपनी ड्रेसिंग टेबल उस के

आगे रख कर स्थायी रूप से उसे बन्द कर दिया था। उस दिन रात को जब मैं उस दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ तो झट से तुम ने ड्रेसिंग टेबल हटा कर मुझे भीतर खींच लिया था। मैं पूछता हूँ निम्मो, तुम्हारी कोमल बाँहों में कहाँ से इतना बल आ गया था? और तुम्हारा चेहरा इतना लाल क्यों हो गया था? उस समय तुम्हारी झुकी हुई आँखों की पलकें और आगे से मुड़ी हुई लम्बी बरौनियाँ इस समय भी मेरे सामने घूम घूम जाती हैं। और फिर तुम ने मुक्त कण्ठ से वहाँ दरवाज़ा बनाने-वाले की बुद्धि की प्रशंसा की थी। दूसरा दरवाज़ा भी तुम ने भीतर से बन्द कर लिया था। बाहर से आवाज़ आयी थी—"अभी तो भूख भूख चिल्ला रही थीं अब खाना परोसा है तो जाने किस काम में लग गयी है। अब आओ भी निम्मो, खाना पड़ा ठण्डा हो रहा है!" यह आवाज़ तुम्हारी माता जी की थी। "कपड़े बदल रही हूँ माँ! मेरा खाना रख दो, थोड़ी देर में खा लूँगी!" तुम ने उत्तर दिया था—और फिर मेरा हाथ थामते हुए हँस कर कहा था—"इन्हें क्या मालूम कि मैं कितना ज़रूरी काम कर रही हूँ?" मेरे साथ पलँग पर लेटे लेटे जाने तुम कितनी देर बातें करती रहीं? कितने वादे लिये और दिये थे तुम ने? इस प्रकार चोरी से मिलने का साहस कैसे कर लिया था तुम ने? और इस का अभिप्राय क्या था? क्या वह अभिसार भी प्यार न था?

मैं तुम्हें पहले भी समझा चुका हूँ निम्मो, कि अपने जीवन से न खेलो। ठंडे दिल से सोचो—अपनी बुद्धि को गिरवी न रख कर उस से पूरा लाभ उठाओ। हिम्मत से काम लो। न अपना जीवन नष्ट करो, न मेरा। तुम ने वृथा के बन्धनों में अपने को जकड़ रखा है। वृथा के वहम अपने इर्द गिर्द बुन लिये हैं। इन वहमों, इन शंकाओं के जाल तोड़ दो। पाप-पुण्य की बातें छोड़ो। नातेदारों की प्रसन्नता की परवाह

न करो। दुनिया की बात जाने दो। तुम उसे कभी प्रसन्न न कर सकोगी। अपने अन्तर की आवाज़ का गला न घोंटो, उस की सुनो और मानो।

जब तुम्हारे पापा ने तुम से पूछा था कि वह यहाँ इतना क्यों आता है, क्या तुम उस से विवाह करना चाहती हो? तो तुम ने 'नाहीं' क्यों कर दी? तुम इतना डर क्यों गयीं, निम्मो? तुम्हारे पापा का स्नेह यदि सच्चा है तो वे तुम्हें कभी भी न त्यागेंगे, चाहे तुम कैसा भी भयंकर अपराध क्यों न करो!

अपने प्रियजनों के विरुद्ध खड़े होकर कोई काम करना एक तरह से उन से दूर हटना है और उन्हें छोड़ देना है और यह बड़ा कठिन है। ऐसी दशा में मानसिक वेदना और दिमाग़ी परेशानी उठानी पड़ती है। मैं सब समझता हूँ और अनुभव करता हूँ। किन्तु जिन्हें तुम से वास्तविक स्नेह है, वे तुम्हें समस्त त्रुटियों सहित अपना लेंगे और उन के स्नेह में तनिक भी अन्तर न आयगा।

तुम और किसी के साथ विवाह करके सुखी नहीं हो सकती और न ही मैं ऐसा करके सुखी हो सकता हूँ। वैवाहिक जीवन को सरल बनाने के लिये शरीर का समपर्ण पर्याप्त नहीं—शरीर और मन दोनों का सम्पूर्ण-समर्पण ही शान्त तथा सुखी गृह-जीवन के लिए आवश्यक है और मुझे विश्वास है कि ऐसा न तुम कर सकोगी और न मैं ही कर पाऊँगा। शरीर अपने संगी को देकर मन में हम एक-दूसरे के लिए ही सोचा करेंगे। यह दो और व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। इस प्रकार दो और निर्दोष जीवन नष्ट हो जायेंगे और यह वास्तव में पाप होगा। हो सकता है तुम्हें मुझ से अच्छा साथी मिल जाय, किन्तु निम्मो, अच्छाई बुराई तो मन की चीज़ है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी

समस्त त्रुटियों के बावजूद मैं तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करूँगा। मेरा विश्वास है, मैं सफल भी हो जाऊँगा। मेरे घरवाले भी तुम्हारा स्वागत करेंगे और तुम्हारे त्याग के लिए न केवल तुम्हारा आदर करेंगे वरन् मैं और वे इस की प्रतिपूर्ति करने की भी चेष्टा करेंगे।

मिस्र जाने के लिए पूछा जा रहा है, मैंने अभी अपना नाम नहीं दिया। मेरे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो लौट आऊँ और चैन से जीवन व्यतीत करूँ या फिर समस्त आशाओं और अरमानों को युद्धाग्नि में होम करने के लिए मिस्र चला जाऊँ। जीवन को घसीटने में या उस के साथ घिसटने में मेरा विश्वास नहीं। धीमे धीमे जलते रहने से एक ही बार ज्वाला बनकर जलना और बुझ जाना मुझे अधिक प्रिय है। यह कहने में मुझे तनिक भी हिचकचाहट नहीं, इस बात को स्वीकार करने में मैं अपना अपमान नहीं समझता कि मेरे जीवन में तुम्हारे अतिरिक्त कोई आकर्षण नहीं!

अपने दो पत्रों के उत्तर में एक भी शब्द तुम्हारी ओर से न पा सका और कदाचित् मैं तुम्हें इतना लम्बा पत्र न लिखता, किन्तु तुम्हारी चुप्पी ने और मिस्र जाने के इस प्रश्न ने, जो अचानक मेरे सामने आ उपस्थित हुआ है मुझे विवश कर दिया है। मैं इस विषय में तुम्हारा परामर्श लेना चाहता हूँ। अब तुम जो भी कहोगी, वही मेरा अन्तिम निर्णय होगा।

मुझे एक सप्ताह के भीतर ही मिस्र जाने का निश्चय करना है और तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करके ही मैं अपने कर्नल को इस का उत्तर दूँगा। तुम एक बार समस्त पुरानी स्मृतियों को अपनी आँखों के सामने लाकर ठंडे दिल से सोचो, मेरा यह पत्र भी अच्छी तरह पढ़ो और समस्त बातों

पर गहन विचार के पश्चात् ही मुझे उत्तर दो। बस मुझे और कुछ नहीं कहना।

अपने समस्त स्नेह-सहित

तुम्हारा ही

जुगल

अपने कमरे की खिडकी में पाँव बाहर को लटकाये निर्मला अन्य-मनस्क बैठी थी। आकाश पर बादल धीरे धीरे मन्द-गति से चले जा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे चिर-संचित व्यथा के कारण उन का मन भर आया है और अपने समस्त संयम के बावजूद कभी कभी उन के संयत आँसुओं की कुछ बूँदें अनायास ही गिर पड़ती हैं। निर्मला को याद आया—ऐसे ही मौकों पर वह जुगल के साथ वाटिका में घूमा करती थी—वह उस के बालों में फूल लगा दिया करता था और वह मुस्करा देती थी! तभी दो पक्षी उस की खिड़की के सामने से उन्मुक्त उड़ते हुए चले गये—निर्मला सोचने लगी—क्या ही अच्छा होता यदि हम मनुष्य न होकर पक्षी ही होते—आकाश में स्वतन्त्र उड़ा करते, फिर उसे जुगल का ध्यान हो आया—जाने वह कहाँ चला गया? कोई पत्र भी तो नहीं लिखा उस ने। माना उसी की ग़लती थी, वह लड़ पड़ी उस से, किन्तु उसे यों लापता न हो जाना चाहिए था। अब वह कहाँ से उस का पता लगाये! सहसा नौकर ने आकर डाक दी। डाक में दो-तीन चिट्ठियाँ और दो-एक अख़बार थे। उस ने देखा पहली चिट्ठी पर जुगल के हाथ का पता है। वह चौंकी—उस ने झट से लिफ़ाफ़ा उठाया यह उस का तीसरा और अन्तिम पत्र था। डाकखाने की ओर से एक स्लिप उस के

साथ लगी हुई थी जिस में लिखा था कि राजनीतिक गड़बड़ के कारण पत्र पहले नहीं भेजा जा सका। उस ने जल्दी से लिफ़ाफ़ा खोला और सारे का सारा पत्र वह वहीं बैठी-बैठी पढ़ गयी। उस की समझ में न आता था कि यह सब कैसे हो गया? पहले दो पत्र कहाँ गये? उसे क्यों नहीं मिले? यदि मिल जाते तो वह उसे कभी मिस्र न जाने देती, अब वह कहाँ है? सहस्रों संशय अचानक उस के मन में जाग उठे। हताश-सी वह पत्र लिये आराम कुर्सी पर आकर लेट गयी। उस ने एक बार फिर उस पत्र को आद्योपान्त पढ़ा। तभी नौकर ने आकर ताज़ा अख़बार दिया। पहले ही पृष्ठ पर मोटे अक्षरों में लिखा था—

''मृत्यु के बाद विक्टोरिया क्रास का प्रदान

अल-आलमीन के युद्ध में स्व० कैप्टन जुगुल की वीरता'' ।

अख़बार उस के हाथ से गिर पड़ा और अनायास उस की आँखों से आँसू बह चले।

फैसला

शिशिर की हिम-शीतल ठिठुरती हुई रात अपने धुएँ और धुँध के साथ कब की उतर आयी थी। नगर के समस्त कोलाहल का जैसे गला घोंट कर उस ने उसे चुप करा दिया था। ट्रामें, मोटरें, ताँगे सब मौन हो गये थे और धुएँ और धुँध ने पूर्ण रूप से, सर्वत्र अपना एकाधिकार जमा लिया था—मार्गों की बिजलियाँ (युद्ध-काल की बचत के कारण) बुझी हुई थीं। सूची-भेद अँधकार और नीरवता छायी हुई थी। और किसी इक्के दुक्के ताँगे या साइकिल की खड़खड़ाहट अथवा उस की टिमटिमाती बत्ती इस नीरव अँधकार को और भी घनीभूत कर रही थी। बृजेश के मस्तिष्क में भी मदिरा का खुमार उसी अंधकार की भाँति छाया जा रहा था और नीरा सेन के संग बीते हुए चन्द क्षणों की स्मृति उसे और भी गहन बना रही थी—नीरा—सौन्दर्य की वाटिका का वह अछूता, लुभावना रंगराता पुष्प—वह चाहता था

कि भौंरे की भाँति उस पर मँडराता रहे—और उमंग में उस ने गुन-गुनाना आरम्भ कर दिया—

भौंरा रस का लोभी रे !

रस और सौन्दर्य्य दोनों एक ही वस्तु के दो रूप हैं। सौन्दर्य्य बाहर की वस्तु है और रस भीतर की। उसे भी तो केवल सुन्दरता इष्ट नहीं। इस सुन्दरता का रस भी वह लेना चाहता है। और उस ने और भी उमंग में तान लगायी—

भौंरा रस का लोभी रे

नौकर बरामदे में अपनी चारपाई पर, मैले फटे कम्बल में सिकुड़ा-सिमटा पड़ा, अभी तक उस की बाट जोह रहा था। स्वर पहचान कर बोला—

"बड़ी देर कर दी सरकार"

"बको नहीं !" मदोन्मत्त स्वर में बृजेश ने कहा, "दरवाज़ा खोलो !"

नौकर ने देखा उस के स्वामी के स्वर और गति दोनों में लड़खड़ाहट है। उस ने चुप चाप उठ कर किवाड़ खोले। बृजेश जाकर कौच में धँस गया। सामने तिपाई पर मदिरा से भरी सुन्दर सुराही पड़ी थी और पास प्याला रखा था। बृजेश ने हाथ बढ़ा कर सुराही उठा ली और प्याले में उँडेलते हुए, थरथराते से स्वर में पूछा, "कोई डाक आयी ?"

"एक यही लिफ़ाफ़ा आया है" नौकर ने वहीं तिपाई पर पड़े हुए एक लिफ़ाफे की ओर संकेत कर दिया।

बृजेश ने उत्सुकता से लिफ़ाफ़ा खोला। उसे नीरा के पत्र की प्रतीक्षा थी। किन्तु पत्र उस के मित्र नरेन्द्र का निकला :—

फैसला

बृजेश डियर,

तुम्हें यह जान कर प्रसन्नता होगी कि आखिर मैं अपने वैवाहिक जीवन की जटिल समस्या को सुलझाने में सफल हो गया हूँ। कल शशि से मेरा विवाह हो गया। इस प्रकार मैंने अपनी समस्त मानसिक और शारीरिक पीड़ा का अन्त कर दिया। सदा के लिए!

मेरे जीवन की असफलता तुम से छिपी नहीं। फिर जब मुझे ज्ञात हुआ कि कान्ता एक बच्चे की माँ बनने वाली है तो मैं स्तब्ध रह गया। मैंने फैसला कर लिया कि इस झूठे, खोखले वैवाहिक जीवन का अन्त कर दूँगा।

कोई दूसरा व्यक्ति, इसी कारण (पत्नी के गर्भवती होने के कारण) विवाह को निबाहने का फैसला करता। परन्तु जब मुझे उस बच्चे के जीवन का ध्यान आता है जो उपेक्षा, घृणा, निष्ठुरता और उदासीनता के उस कटु वातावरण में उत्पन्न होकर पलेगा तो मैं काँप उठता हूँ—और फिर मैं केवल उसी बच्चे के सम्बन्ध में नहीं सोचता, वरन् मुझे उन सब बच्चों का ध्यान हो आता है जो कान्ता के साथ जीवन निबाहने का परिणाम होते।

कान्ता के साथ मेरा विवाह एक भूल थी और यद्यपि इस भूल में कान्ता के तथा मेरे माता-पिता भी दोषी हैं, किन्तु अपने दोष को भी मैं अस्वीकार नहीं करता। परन्तु बृजेश, एक बार भूल करने पर उस में निरन्तर वृद्धि करते रहने में मेरा विश्वास नहीं। कान्ता को छोड़ देना बुरा है, पाप है, किन्तु इस समस्त घृणा के बावजूद उस के साथ निबाहना और बच्चे पैदा करते जाना (जो इस निबाहने का

स्वाभाविक परिणाम हैं) इस से भी बुरा है और मेरी दृष्टि में महा-पाप है। इस लिए मैंने छोटा पाप चुन लिया है।

यह बात मैं विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि अब मुझे पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होगी। प्रसन्नता एक आपेक्षिक सी चीज़ है और फिर अपने प्रत्येक सुख का मोल हमें उस से कहीं अधिक दुख झेल कर चुकाना पड़ता है। किन्तु दुख के भय से सुख की वाँछा ही न करना, दुख के सामने हथियार डाल देना है, दुख से हार मान लेना है। मेरी दृष्टि में यह जीवन के साथ अन्याय है। इस विवाह को भी तुम मेरा, दुख के महासागर में पैठ 'कर सुख का रत्न पाने का एक प्रयास भर समझो और प्रार्थना करो कि मैं इस रत्न को सम्हाल कर रखने में सफल रहूँ।

तुम्हारा

नरेन्द्र,

पत्र पढ़ कर बृजेश हताश सा कौच पर पीछे को लेट गया। प्याले को ओठों से लगाना तो दूर, उस का पहला मद भी, जो ह्वाइट लेबल के दो पैग पीने के बाद उस के मन-मस्तिष्क पर छा गया था, सहसा हवा हो गया। उस के हृदय से एक हूक सी उठी। अपने साहसी मित्र के प्रति, जिसे वह सदैव कायर और भीरु समझता था, एक विवश सी ईर्षा का भाव उस के मन में जाग उठा—एक बार फिर उठ कर उस ने सारे का सारा पत्र पढ़ा और एक और भी दीर्घ और भी गहरा निश्वास उस के मन की गहराइयों से निकल गया। अभी कुछ देर पहले लाल परी के संसर्ग में, उस ने अपने जिस दुख को भूल जाना चाहा था, वह जैसे द्विगुन होकर अपने भयानक रूप में उस के सामने आ गया।

फैसला

बृजेश का विवाह बड़ी धूम-धाम से हुआ था। विवाह से पहले उस की माँ और उस की बहन लड़की को देखने गयी थीं। लौटीं तो प्रशंसा करते उन की ज़बान न थकती थी।

"शान, शान की खान तो है ही" उस की माँ ने कहा था, "रूप, गुण और शील की भी खान है।"

"ऐसी सुन्दर है·········ऐसी सुन्दर·········" उस की बहन को उपयुक्त शब्द न मिल रहे थे "जैसी कि·········जैसी कि कोई ऐक्ट्रेस।"

और बृजेश के सम्मुख उस की प्रिय ऐक्ट्रेसों के चित्र घूम गये थे—फिर उन सब की मिली-जुली छवि उस के मन मस्तिष्क पर छा गयी—सविता देवी जैसी बड़ी बड़ी, भोली मदमाती आँखें, स्नेह प्रभा सा गाता नाचता चाँचल्य, देविका रानी जैसी रूमती-झूमती मस्त चाल, लीला देसाई सा गदराया शरीर और कानन बाला जैसा मधुर मादक रसभरा स्वर—वह उसे हारमोनियम ला देगा और उस का मादक मदिर संगीत ही लोरी बन कर उसे सुलाया करेगा।

वह प्रसन्न था, अपने में फूला न समाता था। अपने इस आल्हाद को अपने मित्रों से बाँट लेना चाहता था। जल्द जल्द कपड़े बदल कर वह नरेन्द्र के घर की ओर चल पड़ा था।

नयी वसंत के नये दिन थे। पेड़ पौधे कोंपलों से लदे-फँदे अपनी लम्बी लम्बी शाखाओं के साथ वसन्त-समीर के सुख-स्पर्श से प्रमुदित झूले झूल रहे थे। बृजेश की दृष्टि आँगन में लगे हुए गुलाब के पौधे पर गयी—एक फूल मुस्काता हुआ हरे भरे लहलहाते पत्तों में झूम रहा था। बृजेश का मन उल्लास से झूम उठा। उस के मन का पौधा भी तो हरा भरा होकर लहलहाने लगा था। उस में भी तो एक सुन्दर गुलाबी फूल

खिल उठा था और उस की मुस्कान भी तो ऐसी ही लुभावनी हो गयी थी।

चलते चलते उस फूल के इर्द-गिर्द उस ने एक सुन्दर वाटिक बना ली—लहलहाते पौधों की सुन्दर क्यारियाँ, बेलों से घिरे हुए शीतल, शान्ति-प्रद कुञ्ज, झर झर बहते हुए झरने.........

किन्तु जब वह विवाह करके बधू लाया तो उस की वह सुन्दर वाटिका पलक झपकते झुलस कर राख हो गयी—और उस का स्थान एक जलते-तपते विशाल मरु ने ले लिया।

विवाह से पहले जब उस के मित्रों में उस की सगाई के सम्बन्ध में चर्चा हुई थी तो नरेन्द्र ने उसे समझाया था, "देखो, बिना देखे कदापि विवाह न करना। मेरी ओर देख लो, जीवन नष्ट किये बैठा हूँ।"

किन्तु प्राणनाथ उस से सहमत न था, "सब तुम्हारे जैसे अभागे तो नहीं होते।" उस ने नरेन्द्र से कहा था, "बृजेश की माँ कहती हैं..."

"माँ" नरेन्द्र ने बात काट कर कहा था, "वे तो पुराने ज़माने की हैं, और फिर पढ़ी लिखी भी नहीं।"

"पर बहन" प्राण ने निरुत्तर हुए बिना उत्तर दिया, "वह तो पढ़ी लिखी है, बृजेश की रुचि को, उस के स्वभाव को समझती है। जब वह कहती है कि लड़की सुन्दर है तो उसे अब देखना, सोहाग की रात, प्रथम दृष्टि-विनिमय के उस अनिर्वचनीय आनंद से सदैव के लिए वंचित हो जाना है।"

और बृजेश उछल पड़ा—"वाह! कैसी कलाकारों की सी बात कही है। नरेन्द्र तो ठहरा वकील, कचहरी के शुष्क वातावरण ने इस की कोमल भावनाओं को कुंठित कर दिया है। सोहाग की रात, सौन्दर्य्य की उस प्रतिमा के दर्शनों की कितनी लालसा उस के मन में होगी—कितना कौतूहल, कितनी जिज्ञासा, कितनी उत्सुकता होगी! और उस

सब को निमिष भर की मूर्खता में खो देना, ऊँह" और उस ने वह सब प्रसन्नता, समस्त सुख, उस रात के लिए सुरक्षित कर रखा था।

परन्तु सोहाग रात के उस बारीक घूँघट से, उस ने अपनी पत्नी का जो रूप देखा; उस से घूँघट उठाने का सारा कौतूहल विलुप्त हो गया था। वह चुपचाप पँलग की पट्टी पर बैठ गया था। तब उस की पत्नी ने स्वयं ही घूँघट तनिक सा उठा दिया था।

और न चाहते हुए भी बृजेश ने देखा था—शरीर तो लीला देसाई जैसा ही गदराया हुआ है, रङ्ग भी गोरा है परन्तु पूर्णमाशी के आकाश पर बिखरे हुए काले काले बादलों की भाँति उस के मुख पर चेचक के बड़े बड़े धब्बे हैं। आँखें छोटी और भाव-शून्य हैं। ओठ मोटे और भद्दे हैं। वह सम्मोहित सा खिड़की के सम्मुख जा खड़ा हुआ था।

उस के कानों में गूँज उठा—ऐक्ट्रेस। क्या ऐक्ट्रेसें ऐसी ही होती हैं? उस के मन में प्रश्न उठा। फिर एक विषाक्त-मुस्कान उस के ओठों पर फैल गयी—हाँ, होती क्यों नहीं?—उस ने स्वयं ही उत्तर दिया।

बाहर चाँद निकल आया था। बृजेश वहीं खड़ा चाँद और घने काले मेघों का युद्ध देखने लगा। मेघ बार-बार चाँद पर छा जाते, उस की श्वेत चन्द्रिका को ढक लेते और वह बार-बार, मानो तड़पकर, उन के चंगुल से स्वतन्त्र हो जाता। उस समय उस की माँ दबे पाँव आकर उस के पीछे खड़ी हो गयी—"अरे, तुम यहाँ खड़े हो, बहू कब की कमरे में गयी हुई है" उस के कन्धे पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए उस ने कहा।

बृजेश ने उत्तर न दिया। पूर्ववत शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखता रहा। घने मेघों से घिरा हुआ चाँद स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहा था। वैसी ही छटपटाहट बृजेश ने अपने मन में अनुभव की। उस के जी में आयी कि एक दम इन दीवारों को फाँद कर भाग जाय—कहीं बहुत दूर भाग जाय!

"क्यों ?" माँ के स्वर में शंका का सम्मिश्रण और अधिक हो गया। "क्या बहू पसन्द नहीं आयी ?"

"नहीं पसन्द है।" विवश क्रोध के तूफ़ान को मन ही में दबाते हुए, पराजित होकर उस ने कहा। ऊपर आकाश में धीरे-धीरे चाँद की तड़प थक गयी थी और चारों ओर घनीभूत अंधकार छा गया था। बृजेश ने आँखों में अनायास छलक आने वाले आँसुओं को पोंछा और भीतर चला गया। नरेन्द्र ने उसे कितना समझाया था, कितना कहा था कि अपने अतिरिक्त किसी पर भरोसा न करो। लेकिन बड़ा कलाकार बनता था वह ! अपनी इस कलाकारिता के दर्प में उस ने अपना ही आगत नहीं बिगाड़ा, उस ग़रीब का भविष्य भी तबाह कर दिया, जो न जाने कितनी अभिलाषाएँ, कितनी लालसाएँ मन में लिए, सोहागरात की उस सेज पर बैठी थी—उसे क्या अधिकार था उस के जीवन को यों अंधकारमय बनाने का ? मूर्ख, अपने किये का दंड भोग—निबाह !

परन्तु तभी उसे विचार आया कि महज़ कलाकार होने की तो बात न थी। जब उस ने सगाई से पहले अपनी पत्नी को देखना चाहा था तो उस की माँ ने उस की बहन का ज़िक्र किया था कि यदि तुम्हारी बहन को कोई देखकर नापसन्द कर दे ? और वह निरुत्तर हो गया था। अब अपनी दुर्बलता पर उसे असीम क्रोध हो आया। वाह, क्या तर्क है—क्योंकि उस की बहन असुन्दर है इसलिए उसे सुन्दर पत्नी पाने का अधिकार नहीं। और उस का मन अपनी माँ, अपनी बहन, स्वयं अपने विरुद्ध एक असह्य क्रोध और ग्लानि से भर आया, किन्तु क्रोध का यह तूफ़ान उस के अन्तर ही में उठता रहा, उस के मुख पर उस का प्रतिबिम्ब तक न आया।

अपने वैवाहिक जीवन के उन पहले चार दिनों में बृजेश की दशा उस नौका की सी थी जो तूफ़ानी लहरों में घिरी कभी डूबती और कभी

उतराती है। उस के मन में कभी वधू बन कर आयी हुई उस नारी के लिए, जो अपने भद्दे कुरूप शरीर के साथ उस से प्रेम की वाँछा रखती थी, असीम घृणा का तूफ़ान उमड़ आता था, कभी उस का मन उसी अज्ञात अपरिचित नारी के प्रति, जो विवाह के चार ग़लत सलत मन्त्रों से उस की पत्नी बन गयी थी, करुणा से भर आता था, वह कभी उसे छोड़ना चाहता था, कभी उस के साथ निबाहना और इसी दुविधा में वह चार दिन तक उस से प्रेम का नाटक खेलता रहा था।

परन्तु उस ने उसे अपने मानसिक भावों की गन्ध तक न पाने दी। वह सोचती थी—मेरा पति कितना भला, कितना शर्मीला, कितना योग्य है! मन ही मन उस ने अपने भाग्य को सराहा भी था। किन्तु बृजेश के लिए यह सब कुछ असह्य हो गया था और वह चार ही दिन पश्चात् दिल्ली भाग आया था।

दिल्ली आकर वह उन कष्टप्रद दिनों की स्मृति को रेस्तोराँ और होटलों में, मदिरा और सौन्दर्य के संसर्ग में रह कर भूलने का प्रयास करने लगा था कि एक दिन उसे माँ का पत्र मिला था—"कन्या देवी ने जन्म लिया है।"

बृजेश ने अपना सिर पीट लिया था। देवी—एक विषाक्त-मुस्कान उस के ओठों पर फैल गयी। विचित्र देश है यह भारतवर्ष भी! यहाँ की स्त्रियाँ देवियाँ हैं और पुरुष देवता—यदि नहीं, तो उन से आशा रखी जाती है कि देवी देवता बनें। मनुष्य की आवश्यकता इस पुण्य-भूमि में नहीं—और अब एक देवी ने स्वयं उस के घर पदार्पण किया था।

किन्तु यह देवी उस के घर आकर उसे सम्हाल न सकी थी। उस के उखड़े हुए पाँव और भी उखड़ गये थे। विशाल निर्जन मरुस्थल में प्रचंड पवन के आवेग से उखड़ कर उड़ती हुई पीली-पोली पपोलो की भाँति वह उड़ा फिरता था। रुकता, सोचता और फिर उड़ने लगता।

एक दीर्घ-निश्वास उस के हृदय की गहराई से निकल गया। वह करवट बदल कर कौच पर लेट गया। सहसा उस की दृष्टि मेज़ पर रखे नीरा के चित्र पर गयी। उस के जीवन-मरु में यही एक शाद्वल था। उस की संतप्त आत्मा को उसी के यहाँ कुछ शान्ति प्राप्त होती थी।

नरेन्द्र ठीक ही तो कहता है—उस ने सोचा—ग़लती को बढ़ाते चले जाने में कोई तुक नहीं। वह भी तो मुझी जैसा है—जिस प्रकार शशि ने आकर उस का जीवन सँवार दिया है, क्या नीरा मेरा जीवन न सँवार देगी। इस अव्यवस्था और विरसता में व्यवस्था और रस का संचार न करेगी।

नीरा—उस ने सोचा, यदि वह उस के जीवन में न आती तो जीवन उस के लिए कितना असह्य हो जाता। वह अन्त कर चुका होता इस निरर्थक, खोखले जीवन का।

नीरा कवियत्री थी, चित्रकार थी, शान्ति-निकेतन रह कर उस ने वह सब कुछ सीखा था। वह बृजेश की कविता पसन्द करती थी। उस से भेंट कर के वह प्रसन्न भी हुई थी। उस के घरेलू-जीवन की करुणा-जनक कथा सुन कर उसे दुख भी हुआ था। बृजेश के लिए उस के मन में सहानुभूति का समुद्र भी उमड़ आया था और वे एक दूसरे के पर्याप्त निकट भी आ गये थे।

उसी ने एक दिन उसे समझाया था—यों जीवन नष्ट करने से लाभ? आप इतने अच्छे साहित्यिक हैं। इस प्रकार दुखी रह कर, निरर्थक जीवन बिता कर, कैसे जीवन-प्रद, सोद्देश्य साहित्य का सृजन कर सकते हैं? यह हानि आप की नहीं, साहित्य की है, साहित्य की हानि जाति की हानि है और जाति की हानि सारे देश की, वरन् समस्त संसार की हानि है। और संसार के लाभ-हेतु एकाध जीवन का बलिदान उतना महत्व नहीं रखता!—उस समय वह अपनी उस कुरूप पर निर्दोष

पत्नी का पक्ष लेकर नीरा से तर्क-वितर्क करता रहा था और कई नैतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक सिद्धान्त उस ने गिना डाले थे।

और सम्भवतः इसी कारण वह नीरा की दृष्टि में ऊँचा उठ गया था, परन्तु अब अपने कमरे के इस एकान्त में बैठे हुए, उस के कानों में नीरा के समस्त शब्द गूँजने लगे और सब कुछ उस के सम्मुख स्पष्ट हो गया— गधे! वह तुझ पर मरती थी, वह तेरे जीवन में आना चाहती थी, वह तेरी सम्मति जानना चाहती थी और तू नीति का चचा बना रहा। बड़ा भारी शहीद!—तू गधा है—भीरु और कायर गधा— साहसी और वीर यों बाज़ी मार ले जाते हैं नरेन्द्र की भाँति!

और उस के सम्मुख वे सब पत्र घूम गये जो नीरा ने लाहौर लिखे थे।

जिस प्रकार अंधकार में सहसा बिजली कौंध जाती है, उस के मन में एक विचार कौंध गया—वह क्यों न लाहौर जाय। नीरा वहाँ है, उस की पत्नी भी वहीं है। क्यों न वह सदैव के लिए इस मानसिक यन्त्रणा की समाप्ति कर दे— नरेन्द्र की भाँति दो-टूक फैसला करे! और सहसा उस ने नौकर को पुकारा—लच्छमन!

नौकर हाथ बाँधे खड़ा था।

"मेरा बिस्तर बाँध दो। मुझे सुबह की गाड़ी से जाना है।

"मालिक......"

"बको नहीं। अलार्म लगा दो सुबह पाँच बजे का। मैं यहीं कौच पर ज़रा पीठ लगा लूँगा। और देखो यह अर्ज़ी लिखे देता हूँ, सुबह याद से दफ्तर में दे आना।

अब वह अपनी पत्नी से बात तक न करेगा, उस से आँख तक न

मिलायगा और इस मुसीबत से सदैव के लिए निष्कृति पाकर ही लौटेगा—इन्हीं विचारों से खदबदाता हुआ वह गाड़ी से उतरा और एक ताँगा पकड़ कर घर की ओर चल पड़ा। उस के मुख पर संकल्प की कठोरता थी, आत्म-विश्वास की चमक थी। किसी वीर सैनिक की भाँति वह अनुभव कर रहा था मानो वह किसी भारी मोर्चे को सर करने जा रहा है। अपनी विगत दुर्बलता तथा असमंजस पर उसे क्रोध आ रहा था। क्यों न उस ने इस से पहले फैसला किया। अपनी इस दुविधा पर वह स्वयं ही हँस दिया। नरेन्द्र के पत्र ने उस की इच्छा-शक्ति को और भी दृढ़ कर दिया था।

घर पहुँचा तो बरामदे ही से पता चला कि उस की माँ बीमार है। उस के मन में उबलते हुए संकल्प पर इस सूचना ने शीतल पानी के छींटे का सा काम किया। 'माँ का स्वास्थ्य तनिक सुधर जाय, तब सही'—उस ने मन ही मन कहा—'परन्तु मैं अपने संकल्प से टलने का नहीं। इस बीच में नीरा के मत का भी पता चल जायगा।' और चारपाई पर निष्प्राण सी पड़ी, मात्र कराहटों में जीवित अपनी माँ के चरण छू कर वह कौच में धँस गया।

तभी उस की बहन ने बच्ची को लाकर उस की गोद में रख दिया और बोली, "देखो बेबी, तुम्हारे पापा आये हैं।"

बेबी और पापा—उस के मन में फिर क्रोध का तूफ़ान उठा। उसे अनुभव हुआ जैसे कोई लिजलिजा सा केकड़ा आकर उसे चिमट गया है—'गधे, यह तेरी करतूत है'—एक घृणा-पूर्ण दृष्टि उस केकड़े पर डाल कर, उस ने अपने आप को गाली दी। परन्तु प्रकट उस के मुख से केवल इतना ही निकला—"इसे ले जाओ शीला, मुझे बाहर जाना है।"

"परन्तु इस समय?"

"हाँ !"

"अभी यात्रा से आये हो, अब आराम करो, सुबह हो आना।"

"नहीं।"

उस के स्वर में कुछ ऐसी कठोरता और कर्कशता थी कि उस की बहन चुपचाप बच्ची को उठा कर भीतर भाभी के पास ले गयी।

अपने पुत्र का खिन्न, मलिन मुख देख कर माँ का मन भर आया।

"क्या बात है बेटा ?" वहीं लेटे-लेटे कराह कर वात्सल्य-पूर्ण स्वर में उस ने पूछा।

बृजेश जल उठा—इन्हें मानो कुछ ज्ञात ही नहीं। स्वयं ही आँख चुभो कर अब पूछ रही हैं—'ये आँख में आँसू कैसे बेटा'—और उस की आँखें सचमुच भर आयीं जैसे वे सचमुच चुभ गयी थीं।

"क्या बात है ; कहते क्यों नहीं ?" माँ ने और भी घबरा कर पूछा।

"आप को जैसे पता ही नहीं।" वह भिनभिनाया, "इस प्रकार मुझे फँसा कर, बलि का बकरा बना कर आप अनजान बन बैठी हैं। आप ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया है। मैं फैसला करने आया हूँ, सदा के लिए इस झंझट से छुटकारा पाने आया हूँ.........और वह भूल गया कि उस ने तो माँ का स्वास्थ्य सुधरने तक चुप रहने का निश्चय किया था।

"हमारी प्रसन्नता तो तुम्हारी प्रसन्नता ही में है बेटा, "माँ के कराहने में वृद्धि हो गयी। "परन्तु परायी लड़की का ध्यान आता है।"

"परायी लड़की का ध्यान आता है और अपने लड़के का ध्यान नहीं आता" उस ने अवरुद्ध कंठ से कहा, "यदि आप मेरे साथ इसी प्रकार व्यवहार करेंगी तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

"धीरज से काम लो बेटा"—लड़के के पागल होने की कल्पना ही

से काँप कर माँ ने कहा। उस का मुख श्वेत हो गया और पीड़ा की अधिकता के कारण उस की आकृति पर अगणित रेखाएँ बन गयीं।

बृजेश उठ कर दूसरे कमरे में चला गया। उस की पत्नी उस के आने की सूचना पा रसोई घर में चाय बनाने लगी थी। सूटकेस से तौलिया और साबुनदानी लेकर उस से दृष्टि मिलाये बिना, वह जल्दी जल्दी स्नानगृह की ओर बढ़ा। हाथ मुँह धोकर वह निकला ही था कि उस की पत्नी ने चाय की ट्रे लाकर आँगन की मेज़ पर रख दी।

परन्तु उस ने चाय नहीं पी। "मुझे अभी कहीं जाना है!" केवल इतना कह कर वह भीतर चला गया। उस ने बाल सँवारे और नया सूट निकाला—यह सूट उसे बहुत सजता था। मित्रों ने इस की बड़ी प्रशंसा की थी और स्वयं भी उसे यह बहुत पसन्द था। नीरा सेन से मिलने के लिए जाने के विचार से आप से आप यह सूट उस के हाथ में आ गया था।

कपड़े बदल कर वह मनुष्याकार दर्पण के सामने जा खड़ा हुआ। उस ने नख से शिख तक अपना निरीक्षण किया और सन्तुष्ट होकर मुस्कराया। तभी उस की दृष्टि सिर के बालों पर पहुँच कर अटक गयी।

उसे ध्यान आया उस के बाल कितने सुन्दर और घने होते थे। प्रतिभा की देवी के चरणों में उस के वे लम्बे घने बाल भेंट चढ़ गये थे और प्रसाद के रूप में उसे विशाल मस्तक मिला था—प्रतिभा-सम्पन्न होने का सहज पुरस्कार!

सूट पहन कर और टाई की गाँठ को एक बार फिर ठीक करके वह घर से निकला। सड़क पर बिजली की बत्तियाँ, उस के तिमिराच्छन्न हृदय में प्रकाशित अगणित लालसाओं की भाँति जगमगा रही थीं। वह प्रसन्न था। उस की व्यथा तथा दुःख, मौसिमी पक्षियों की भाँति, न जाने किन अज्ञात प्रदेशों को उड़ गये थे। उस का मन उत्फुल्ल था, लगता

था जैसे कोई भारी बोझ उस पर से उतर गया हो—साढ़े नौ बजे थे जब वह नीरा के घर पहुँचा।

नीरा उस समय ड्राइंग रूम में बैठी एक सुन्दर युवक से बातें कर रही थी। बृजेश को देख कर हर्ष की एक आकर्षक 'ओह' उस के ओठों से निकली और बिजली के सुन्दर हंडों के प्रकाश में, टिश्शू की झलमलाती साड़ी में आवृत्त, अपनी सुन्दर छवि बिखेरती हुई वह उस के स्वागत को उठी। निमिष भर के लिए बृजेश उस की ओर देखता रह गया। वह उसे इतनी सुन्दर कभी न लगी थी।

"ये हैं मेरे मित्र प्रोफेसर गजेन्द्र, भारत के ख्याति-प्राप्त कलाकार!" अपरिचित की ओर संकेत करते हुए उस ने बृजेश से कहा।

कलाकार—बृजेश ने देखा—लम्बा क़द, सुगठित देह, सुन्दर मुख पर आत्म-विश्वास की रेखाएँ, गहरी अथाह अनुभूति-पूर्ण आँखें, लम्बी नाक और पतले सुन्दर ओठ!

"ये शान्ति निकेतन में भी रह चुके हैं" नीरा मधुर स्वर में चहचहायी और वहीं मेज़ पर रखा हुआ एक पर्स दिखाते हुए उस ने कहा, "यह बटुआ आप ही के हाथों का बना हुआ है। आप ने मुझे भेंट किया है।"

फिर उस ने कलाकार को सम्बोधित करके बृजेश की ओर संकेत किया, "और ये हैं मेरे भाई, मिस्टर बृजेश, प्रसिद्ध कवि और साहित्यिक!"

भाई—बृजेश का हृदय धक से रह गया—अब वह क्या भाई ही बनने योग्य रह गया है—उस ने सोचा—यदि और चार वर्ष इसी प्रकार बीत गये और वे लड़कियाँ जिन्हें वह चाहता है, उसे भाई ही बनाती चली गयीं तो......तो सम्भवतः उसे अपना जीवन इसी पत्नी के साथ बिताना पड़े—सहसा उस का हाथ अपने दिन-प्रति-दिन छनते हुए

बालों की ओर चला गया और उस की अंगुलियाँ जैसे झिझकती हुई धीरे धीरे उन में फिरने लगीं और एक खिसियानी सी मुस्कान उस के ओटों पर फैल गयी.........

"आप से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई" उस ने बढ़ कर कलाकार से हाथ मिलाने की चेष्टा करते हुए कहा। किन्तु उन्हों ने उठ कर केवल हाथ जोड़ दिये।

वह अप्रतिभ सा होकर कौच पर बैठ गया।

उस के पश्चात् नीरा ने क्या बातें कीं, बृजेश ने कुछ नहीं सुना। अन्यमनस्क सा बैठा 'हूँ' 'हाँ' करता रहा। सारा वक्त उस के मस्तिष्क में केवल दो बातें घूमती रहीं—नीरा का शब्द 'भाई' और 'उस की पत्नी!'

थोड़ी देर बाद वह आज्ञा लेकर चला आया। अपने विचारों में मग्न उसे पता भी न चला कि वह कब घर पहुँचा—सब लोग सो गये थे, केवल उस की पत्नी रसोई घर में बैठी, उस की प्रतीक्षा कर रही थी।

उस का हाथ अचानक अपने बालों पर चला गया और उस के हृदय में उस बेचारी के लिए असीम करुणा सजग हो उठी।

शिशिर की वैसी ही ठिठुरी हुई रात थी। धुएँ तथा धुन्ध ने नगर के समस्त कोलाहल का गला घोंट कर पूर्णरूप से अपना एकाधिपत्य जमा लिया था। सूचीभेद अन्धकार छाया हुआ था। किसी इक्के दुक्के ताँगे या साइकिल की खड़खड़ाहट अथवा टिमटिमाती बत्ती इस नीरव अंधकार को और भी घनीभूत बना रही थी। बृजेश लड़खड़ाता हुआ— भौंरा रस का लोभी रे—गुनगुनाता अपने घर के बरामदे में दाख़िल हुआ।

अपने फटे मैले कम्बल में सिकुड़ा सिमटा नौकर अभी तक उस की बाट जोह रहा था।

"दरवाजा खोलो!" मत्त थरथराते स्वर में उस ने कहा।

नौकर ने देखा, आज भी उस के स्वामी के स्वर और गति में लड़खड़ाहट है। चुपचाप उठ कर उस ने किवाड़ खोल दिये। बृजेश जाकर कौच में धँस गया। सामने मेज़ पर प्याला और सुराही आदिम साथियों की भाँति उपस्थित थे। बृजेश ने सुराही उठायी और प्याले में मदिरा उँडेलते हुए नौकर से पूछा, "कोई डाक आयी?"

"यही एक लिफ़ाफ़ा आया है", नौकर ने वहीं मेज़ पर पड़े हुए एक लिफ़ाफे की ओर संकेत कर दिया।

बृजेश ने जल्दी से लिफ़ाफ़ा उठाया। उसे मिसिज़ खन्ना के पत्र की प्रतीक्षा थी। लाहौर में उस की भेंट उन से हुई थी। और वहाँ चन्द दिन का निवास उन्हीं के काव्य-प्रेम ने लम्बा और सुखद बना दिया था और बाद में भी उन का पत्र व्यवहार चलता था—किन्तु पत्र उस की माँ का निकला।

"तुम्हारे घर कल कन्या देवी ने जन्म लिया है," उस की माँ ने लिखा था, "माँ बच्चो दोनों स्वस्थ हैं" और फिर उसे सान्त्वना दी थी "बेटा तुम चिन्ता न करना। बहू नीरोग रहे, अगली बार भगवान् लड़का देंगे।"

"लड़का......अगली बार......" फटे हुए ढोल की भांति वह हँसा। दूसरे क्षण उस ने प्याला उठाकर, एक ही घूँट में समाप्त करके उसे मेज़ पर पटक दिया और नशे में बेसुध कौच में औंधा लेट गया।

नौकर ने देखा—फटे हुए ढोल की भाँति हँसता हुआ वह बड़बड़ा रहा था......"अगली बार......लड़का...अगली बार...लड़का..."

जगन्नाथ

जगन्नाथ कुलियों के सिर पर से सामान उतरवा कर यथास्थान रखवा रहा था और मन ही मन कह रहा था—कमरे तो अच्छे हैं, ख़ासे बड़े, हवादार और रौशन हैं और फिर इन में बिजली भी है। हमें लोग नाहक़ डराते थे कि सीज़न कब का आरम्भ हो चुका है, अच्छा मकान मिलना लगभग असम्भव है, लालटेनों में तेल डालते और उन की चिमनियाँ साफ़ करते-करते हाथ-मुँह काले हो जायेंगे।

जगन्नाथ को लालटेनों से बड़ी चिढ़ थी। बम्बई में भी जब कभी बिजली ख़राब हो जाती, गोदाम के किसी कोने में पड़ी हुई उपेक्षित लालटेन को, जिस पर तेल सनी धूल की मोटी परत जम जाती, उसे साफ़ करना पड़ता तो लालटेन साफ़ करते-करते वह बिजली कम्पनी के पदाधिकारियों पर "मधुर बचनों" की वर्षा करता हुआ बार-बार नाक-भौं चढ़ाता। उस की नाक चपटी थी जिस की नोक ख़ासी ऊपर को उठी

हुई थी, भवें टेढ़ी थीं और नाक-भौं चढ़ाने में उसे कोई कठिनाई न होती थी। जब भी उसे अप्रसन्नता अथवा क्रोध प्रकट करना होता, वह नाक-भौं चढ़ा देता।

यह सुन कर कि पंचगनी में बिजली वाला घर नहीं मिलेगा, वह बड़ा भन्नाया था। उस ने चाहा था कि पंचगनी जाने से इनकार कर दे, किन्तु डाक्टरों ने अचानक इस बात की घोषणा की थी कि उस के सेठ के फेफड़ों पर यक्ष्मा ने आक्रमण किया है और इस का प्रतिकार करने के लिए उसे तत्काल पंचगनी के सेनेटोरियम में चले जाना चाहिए। ऐसे संकट के समय जगन्नाथ किस तरह सेठ का साथ छोड़ देता, विशेष कर उस समय जब उस के सेठ को कोई दूसरा रसोइया पसन्द न था?

सामान आदि रखवा कर अपनी इस प्रसन्नता को उस ने अपनी सेठानी के सम्मुख व्यक्त किया। खीसें निपोरते हुए बोला, "मकान तो जी काफ़ी खुला, हवादार और रौशन है, बिजली से भी लैस है और लोग हमें डराते थे.........

किन्तु उस की सेठानी यात्रा के कारण थकी, चिढ़ी और भूखी थी। उस की प्रसन्नता में किसी प्रकार का योग न देते हुए उस ने अत्यन्त चिड़चिड़े स्वर में कहा, "अब रखवा भी चुको सामान। चींटी की चाल छोड़ो और जाकर रसोई घर में कुछ चाय-वाय का प्रबन्ध करो!"

जगन्नाथ की फैली हुई खीसें निमिष भर में सिकुड़ गयीं और नाक-भौं चढ़ाता और बड़बड़ाता हुआ वह रसोई-घर की ओर चला। जब उस ने रसोई-घर की चौखट में पाँव रखा तो नाक और भी ऊँची होकर उस के गंजे होते हुए मस्तक को छूने लगी, उस की भवें तनी हुई कमान बन गयीं और उस की बड़बड़ाहट इतनी ऊँची और कर्कश हो गयी कि अपने रसोईघर में बैठी हुई सिन्धी मालकिन के लिए काम करना कठिन हो गया।

"यह रसोईघर है," वह बड़बड़ा रहा था, "इसे कौन साला रसोई घर कहता है, यह तो किसी कोयला बेचने वाले का गोदाम लगता है। बम्बई में हमारे रसोई घर के फ़र्श में मुँह भी देखा जा सकता है, यहाँ तो दिन को आदमी भी दिखायी नहीं देता। खाना पकाने को एक चूल्हा भी तो नहीं, सिगड़ी से सुबह-शाम माथा फोड़ना पड़ेगा। कहाँ वह गैस के चूल्हे, जरा स्विच दबाया, दियासिलाई दिखायी कि भक से आग जल उठी और कहाँ......"

तभी उस की दृष्टि छत पर गयी और उसे विदित हुआ कि रसोई घर में बिजली नहीं। इस बात ने मानो उस की क्रोधाग्नि पर तेल का काम किया और वह जल कर बड़बड़ा उठा —"इतना किराया और यह रसोई घर! इन्हें भी हम जैसा बुद्धू और कौन किरायदार मिला होगा।"

अब सिन्धी मालकिन-मकान के लिए अपने रसोई घर में बैठे रहना असह्य हो गया। झपट कर वह उठी और आकर जरा कड़क कर उस ने पूछा, "क्यों, क्या हुआ है रसोई घर को? अच्छा-भला तो है।"

"अच्छा है तो तुम लोग इधर आ जाओ और हमें अपने वाला रसोई घर दे दो। हम ने तुम्हारा रसोई घर देख कर हाँ कर दी थी, हमें क्या मालूम था ऐसी चार सौ बीस होगी।"

सिन्धी मालकिन-मकान ने उसे साधारण नौकर समझा था और सोचा था कि इस बदतमीज़ को झिड़क देगी, किन्तु जब उस ने जगन्नाथ की चढ़ी हुई नाक और तनी हुई भवें देखीं और उस के स्वर से ज्ञात हुआ कि वह केवल नौकर नहीं वरन् सेठ का मन्त्री भी है तो वह नम्र हो गयी। उस ने अभी पूरा किराया भी न लिया था और इस बात ने उसे नम्रता से काम लेने को और भी विवश किया। ओठों में तनिक मुस्कान और स्वर में विवशता उत्पन्न कर के उस ने कहा—

"देखो भाई, अभी काम चलाओ, बिजली भी लगवा देंगे।"

"तभी हम इधर आ जायँगे अभी हम को अपने वाला रसोई घर दे दो।"

तब सिन्धी मालकिन-मकान ने उसे अपने रहस्य का साझी बनाते हुए कहा, "देखो भाई, मकान हमारा तो है नहीं। हम ने तो तीन हज़ार रुपया साल का किराया भर कर इसे लिया है। होटल खोलने का विचार था किन्तु परमिट अभी नहीं मिली, नहीं इस सीज़न में आप को एक कमरा भी न मिलता। फिर भी पैसेंजर आते हैं, इसलिए यह रसोई घर हम ने अपने लिए रख लिया है। दस-दस लोगों का खाना बनाना पड़ता है, सिगड़ी पर कैसे बन सकता है? तुम्हें तो कुछ महीने रहना है और दो-तीन आदमियों का खाना पकाना है। तुम तो फिर बम्बई वाले रसोई घर में जा सेठ बनोगे, हमें तो इन्हीं रसोई घरों से माथा फोड़ना है।" और स्वर में और विवशता भर कर उस ने इतनी और वृद्धि की, "किसी तरह इसी रसोई घर से काम चलाओ भाई, तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, तुम्हारे कारण हम भी चार टुकड़े खा लेंगे। तुम शोर मचाओगे, सेठ और मकान ले लेगा, तुम्हारे हाथ क्या आयेगा? मेरा लड़का भी सेने-टोरियम में बीमार पड़ा है, इसीलिए परदेश में यह झंझट कर रही हूँ। आशीर्वाद दो, उसे आराम आये, हम भी अपने घर जायें।"

जगन्नाथ की चढ़ी हुई त्योरी उतर गयी। उस ने मन ही मन सिन्धी मालकिन-मकान के लड़के को आशीर्वाद भी दिया और चुप-चाप सिगड़ी लाकर उस में कोयले भरने लगा।

·

यह बंगला, जिस के दो कमरे (स्नानगृह मिला कर) सेठ राम-चन्दानी ने १०० रुपये महीने के हिसाब से छः सौ पर लिये थे, एक पारसी जज ने बनवाया था। उसे कभी स्वप्न में भी इस बात का ध्यान

न था कि उस का यह "शान्ति विला" किरायेदारों के काम आयेगा या होटल बनेगा। उस ने तो अपने ही परिवार की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर इस का नक्शा तैयार करवाया था। मध्य में एक बड़ा हाल था (जिस का आधा भाग कामन डाइनिंग रूम और आधा कामन सिटिंग रूम का काम देता था) उस के दायें-बायें तीन-तीन बड़े कमरे उस ने अपने छः लड़कों के लिए बनवाये थे। प्रत्येक कमरे के साथ बाथरूम और ड्रेसिंग रूम था। उत्तर-दक्षिण दोनों ओर हवादार बरामदे थे, बङ्गले के आगे खुला लॉन था जिस के एक कोने में कुआँ था और दूसरे में नौकरों के क्वार्टर!

बङ्गले के उत्तर में दस कदम के अन्तर से रसोई घर था। पञ्चगनी में वर्षा इतनी भयंकर होती है कि पाँच छः महीने सूखी लकड़ी या कोयला नहीं मिलता, इसलिए बहुत से परिवार छः सात महीने के लिए इकट्ठा ईंधन डाल लेते हैं। इस पारसी जज ने भी दो-तीन कोठड़ियाँ कोयला, लकड़ी और दूसरा सामान भरने को, रसोई-घर के साथ ही बनवायी थीं; वर्षा की बौछार सीधी उधर न आये इस अभिप्राय से एक चबूतरा और छोटा-सा बरामदा भी रसोईघर और इन तीनों कोठड़ियों के सामने बनवा दिया था और इस बङ्गले का नाम 'शान्ति विला' रखा था क्योंकि सुख और शाँति की इस से उत्तम कल्पना उस के मस्तिष्क में न थी कि उस के सभी लड़के एक साथ रहें, इकट्ठे खाना खायें और इकट्ठे उठें बैठें।

किन्तु जज के लड़के बड़े होकर ऐसे बिखरे कि इस बङ्गले में उस के तथा उस की वृद्ध जीवन-संगिनी के अतिरिक्त और कोई न रहा। आख़िर जब एक दिन जज साहब यमराज की अदालत में स्वयं अपने कर्मों का फैसला सुनने चले गये तो उन की जीवन-संगिनी के लिए इतने बड़े बङ्गले का एकान्त और सूनापन असह्य हो उठा और वह इस सिंधी

स्त्री को बङ्गला किराये पर देकर स्वयं अपने बड़े लड़के के पास महा-बलेश्वर चली गयी।

रसोईघर तो सिंधी किरायदार-मकान-मालकिन ने अपने लिए रख लिया क्योंकि उस का विचार होटल खोलने का था, सामान के गोदाम नौकरों की कोठड़ियों में बना दिये और सामान वाली इन कोठड़ियों को साफ़ कराके रसोईघर बना दिये।

इन तीन कोठड़ियों में से एक उस ने लक्ष्मी को दी थी जिस का पति कुछ दिन पहले सेनेटोरियम में दाखिल हुआ था, दूसरी जगन्नाथ के भाग्य में आयी और तीसरी इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि सेनेटोरिमम में कोई और रोगी आये तो उस के भी भाग्य जगें। बङ्गला बाज़ार से तनिक दूर और सेनेटोरियम के निकट था इसलिए जब से पारसी जज की पत्नी ने इसे खाली किया था, इस में रोगी या उन के सगे-सम्बन्धी ही रहते आये थे।

संध्या का समय था। हवा में बला की ठंडक और तीक्ष्णता भर गयी थी। बंगले के लॉन में खड़े गगन-चुम्बी सिलवर के पेड़ों की डालियाँ पवन के प्रबल झोंकों से दोहरी हुई जा रही थीं। एक वृक्ष की डाल पर सदा की भाँति एकाकी सालुंकी आ बैठी थी और रह-रह कर अपनी लाल चोंच से लम्बी सीटी शून्य में गुँजा देती थी। जगन्नाथ अपने रसोई घर में बैठा साँझ की चाय के लिए सिगड़ी सुलगा रहा था। रसोई घर की दीवारें टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी पत्थरों से बनी, पहाड़ी लोगों ही की भाँति, ऊबड़-खाबड़ थीं। इन खुरदरी दीवारों पर काली धूल की परत जमी हुई थी। उन्हें देख कर उन काली-कलूटी छोकरियों का स्मरण हो आता था जो अपने कील भरे, काले मुखों पर पाउडर की तह जमा कर, सुन्दर बनने की निष्फल

चेष्टा में, उन्हें और भी कुरूप बना लेती हैं। फ़र्श असमतल और गंदा था। सील और अँधेरे से भरी इस कोठड़ी को देख कर जगन्नाथ को असीम क्रोध हो आया, किन्तु किराया अब वे दे चुके थे और फिर सिंधी मालकिन ने बिजली लगवा देने और दूसरी मरम्मत करा देने का भी वचन दिया था, इसलिए जगन्नाथ, ने इस रसोई घर से (अस्थायी ही सही) समझौता कर लिया था। एक ओर जगह साफ़ कर के उस ने आटे-चावल आदि के कनस्तर और दाल-मसाले के डिब्बे लगा दिये थे। दूसरी ओर करीने से बर्तन चुन दिये थे। चबूतरे पर बाल्टी और लोटा रख दिया था था। एक कोने में कोयले डाल कर आस-पास लकड़ियाँ चुन दी थीं, ताकि कोयले बिखरें नहीं और फ़र्श को अधिक काला न करें। और इस ओर से निश्चिन्त होकर वह गुनगुनाने लगा था।

बाम्हना दा छोरुआ ओ, देस बगाना
नीऊँ चलना*

साथ के रसोई घर में चिन्तित बैठी लक्ष्मी यह गाना सुन कर चौंकी और उस की उदास आँखों में एक हल्की सी चमक पैदा हो गयी। वह अभी-अभी बाज़ार से सामान लेकर और 'लक्की रेस्तोराँ' के ईरानी मैनेजर से किसी नौकर का पता लेकर लौटी थी और चाय का पानी सिगड़ी पर चढ़ा कर सोच के सागर में डूब गयी थी—यदि यह ज्ञात होता कि यहाँ कोई ढब का नौकर न मिलेगा तो वह रामू को ही क्यों जाने देती। बम्बई में गर्मी इतनी अधिक हो गयी थी कि उस के पति को रात-रात भर नींद न आती थी, इसलिए डाक्टरों के परामर्श से वह उसे पंचगनी ले आयी थी। तब उसे बताया गया था कि नौकर ले जाने

* कांगड़े के पहाड़ों का गीत जो 'पहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है—ऐ ब्राह्मण युवक, देश बेगाना है, झुक कर चल! (अकड़ से काम न चलेगा)।

की आवश्यकता नहीं, बड़े सस्ते छोकरे मिल जाते हैं वहाँ, किन्तु यहाँ आकर उसे नौकरों के इस बाहुल्य की वास्तविकता का पता चल गया। आस-पास के देहात से पहाड़ी छोकरे भूख के मारे हुए नौकरी करने आ जाते। चार रुपये महीना लेते, चार आदमियों का राशन खा जाते। इतने गन्दे, गँवार और अपढ़ कि कोई बात उन की समझ में न आती। एक काम करते तो चार बिगाड़ देते। फिर उन का विश्वास भी न था। घर में छोड़ कर लक्ष्मी सेनेटोरियम जाती तो दिल में निरन्तर धुकड़-पुकड़ लगी रहती कि कहीं उस की अनुपस्थिती में सब चीज़ों का सफ़ाया ही न हो जाय। हार कर उस ने फैसला किया था कि नौकर रखेगी तो अनुभवी, नहीं सब काम स्वयं करेगी। किन्तु अब वर्षा-ऋतु निकट थी और पंच-गनी की वर्षा के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की बातें सुन कर वह संत्रस्त थी कि बाज़ार से सामान कौन लायेगा? उस के पति का खाना कौन पहुँचायेगा? खाना पहुँचाने के लिए तो खैर घाटन भी रखी जा सकती है, किन्तु बाज़ार से सामानादि लाने के लिए तो अनुभवी, समझदार और विश्वसनीय नौकर ही चाहिए। और वह सोचती थी, कैसी जगह नियति ले आयी, जहाँ एक भी पंजाबी नहीं। सिन्धी, मराठी, मदरासी और पारसी लोगों की भीड़ थी, पर वह इन सब में अपने आप को निपट एकाकी अनुभव करती थी। कोई काम आ पड़े तो किसी से कह नहीं सकती.........आवश्यकता पड़ने पर किसी से कोई वस्तु माँग नहीं सकती.........

तभी उसे जगन्नाथ का पहाड़ी गीत सुनायी दिया—पंजाब की पहाड़ियों का प्रसिद्ध गीत! और आशा की एक सूक्ष्म-सी रेखा उस के मन में कौंध उठी।

पानी केतली में उबल-उबल कर बावला हो रहा था। चौंक कर उस ने जल्दी से चायदानी में पत्ती डाल कर चाय बनायी। उस ने

सोचा चाय पीकर इस नये नौकर से बातचीत करने का प्रयास करेगी किन्तु तभी उसे साथ के रसोई घर में नवागत सेठानी का कर्कश स्वर और जगन्नाथ की बड़बड़ाहट सुनायी दी। प्याली हाथ ही में लिए हुए वह अपने रसोई घर की चौखट में आ खड़ी हुई।

बात यह हुई कि क्षण भर के लिए 'पहाड़ी' की उस मतवाली तान में खोकर जगन्नाथ भूल गया था कि उसे जल्दी चाय बना कर ले जाना है। उबलते हुए पानी की 'सां' 'सां' उस के गीत के लिए वाद्य-यन्त्र का काम देती रही और वह बेसुध गाता रहा कि उस की सेठानी के कर्कश स्वर ने मानो संगीत के उस निखरे हुए तालाब में ईंट फेंक दी।

"तानसेनी पीछे करना, पहले चाय-बिस्कुट रख! मुझे सेनेटोरियम जाना है।"

वह हड़बड़ा कर उठा और इस जल्दी में प्लेट उस के हाथ से गिर कर टूट गयी।

"तेरा ध्यान किधर है?" उस की सेठानी गरजी। "क्रॉकरी तो सोने के भाव भी नहीं मिलती और तू तोड़े जा रहा है।"

प्लेट मोटी थी और किंगरे वाली थी। जगन्नाथ के पाँव की छिंगुली पर घाव हो गया। ऊपर से सेठानी की गरज! उसे बड़ा क्रोध आया। बोला, "हम ने क्या जान-बूझ कर तोड़ी है? हमारा पाँव फूट गया, आप को प्लेट की पड़ी है।"

"बकबक मत कर और चाय ला!" और फुँकारती हुई उस की सेठानी चली गयी।

जब लक्ष्मी प्याला हाथ में लिये बाहर आयी तो उस ने देखा—साढ़े पाँच छः फुट लम्बा, हृष्ट-पुष्ट जगन्नाथ बड़बड़ाता हुआ अपना पाँव सहला रहा है। उस की चौड़ी चपटी नाक ऊपर को उठी हुई है, नथने फूले हुए हैं, जिस से नाक का चपटापन और भी स्पष्ट हो रहा

है। बड़े-बड़े लटकते हुए कानों के ऊपर विशाल मस्तक पर कई तेवर बन गये हैं और वह मोटे-मोटे ओठों में कुछ बड़बड़ा रहा है।

लक्ष्मी के ओठों पर एक सूक्ष्म-सी मुस्कान फैल गयी। इस बिफरे हुए सिंह को किस प्रकार वश में करे?—प्याली हाथ में ही लिये हुए वह सोचने लगी।

उस के देखते-देखते जगन्नाथ चाय आदि की ट्रे लेकर भीतर चला गया। लक्ष्मी वहीं चौखट में खड़ी-खड़ी चाय की चुसकियाँ लेती रही। हवा तेज़ हो गयी थी, उस की गरदन में लिपटा हुआ साड़ी का आँचल हवा में फहरा रहा था। सिलवर के वृक्ष पर बैठी हुई सालुंकी निरन्तर लम्बी-लम्बी सीटियाँ भर रही थी और लक्ष्मी, कुछ क्षण के लिए, रसोई घर के अंधकार, उस की जर्जर दीवारों के अनगिनत बिलों और उन से निकल कर कुदकड़े मारने वाले चूहों को भूल कर सालुंकी की लम्बी मधुर सीटियों में खो गयी थी। तभी जगन्नाथ खाली ट्रे लिये हुए वापस आया और लक्ष्मी चाय का अंतिम घूँट भर कर प्याले को चबूतरे पर रखती हुई आगे बढ़ी। साहस करके उस ने पूछा:—

"क्यों भाई, तुम लोग कब आये?"

"तुम को हमारे से क्या काम है?" जगन्नाथ ने पूर्ववत् तेवर चढ़ाये हुए बम्बई की हिन्दुस्तानी में पूछा।

"नहीं भाई, मुझे कोई काम तो नहीं," लक्ष्मी ने संयम के साथ कहा "मैंने तो इसलिए पूछा था कि तुम नये-नये आये हो, किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो 'निशंग'† माँग लेना।

जगन्नाथ की भृकुटी उतर गयी। मोटे-मोटे ओठ हल्की-सी मुस्कराहट से फैल गये।

---

† निःसंग का पञ्जाबी अपभ्रंश

"तुम क्या पञ्जाबी हो ?" उस ने पूछा ।

"हाँ, हम लाहौर के रहने वाले हैं ।"

"हम भी पालमपुर का रहने वाला है," वह प्रसन्नता से बोला ।

"इतनी दूर कैसे आ गये तुम ?"

एक विवश दार्शनिक सी मुस्कान जगन्नाथ के ओठों पर फैल गयी ।" किस्मत के खेल हैं बीबो । जिस तरह आप लोग आ गये, वैसे ही हम भी आ गये ।"

तुम्हारी सेठानी बड़ा गरज रही थी, बात क्या हुई ?" लक्ष्मी ने आत्मीयता दिखाते हुए कहा ।

"मैं चाय बना रहा था कि आकर जल्दी मचाने लगीं । घबराहट में प्लेट टूट गयी । मेरा पाँव जख्मी हो गया, इस का उन्हें कोई दुख नहीं, आठ दस आने की प्लेट के टूट जाने का ग़म है ।"

"इस में तुम्हारा क्या दोष, अपने से भी टूट जाती है ।"

"और इतने बड़े सेठ बनते हैं, दिल ग़रीबों से भी गया-गुज़रा है ।" जगन्नाथ को जैसे कोई अपना आदमी मिल गया ।

"मैं टिंक्चर" लाती हूँ, पाँव पर लगा लो । बरसात है कहीं पक गया तो........"

और जगन्नाथ के 'न' 'न' करने पर भी लक्ष्मी रुई पर टिंक्चर लगा कर ले आयी । जगन्नाथ का क्रोध न जाने कहाँ हवा हो गया । टिंक्चर का फाहा लक्ष्मी के हाथ से लेते समय उस के मुख पर बाल-सुलभ सरलता खेलने लगी । मन ही मन वह सोचने लगा—किसी बड़े घर की लक्ष्मी है । बात-बात से बड़प्पन टपकता है, कोई रुपये से तो बड़ा नहीं हो जाता, दिल बड़ा होना चाहिए । टिंक्चर लगा कर बोला, "किसी चीज़ की ज़रूरत हो बीबी, तो कहना । मुझे अपना भाई ही समझना ।"

तब लक्ष्मी ने अपने मन की बात कही, "कोई अपने जैसा नौकर हो तो ला दो। बरसात आ गयी है, बाज़ार से सामान लाने और उन को खाना पहुँचाने की दिक्कत हो जायेगी।"

"तुम चिन्ता न करो बीबी। जो चीज़ बाज़ार से लानी हो मुझे बता दिया करना। मैं ला दूँगा और खाने का क्या है, अपने सेठ का ले जाता हूँ, तुम्हारे सेठ का भी ले जाऊँगा।"

"तुम्हारी बड़ी कृपा है भाई," लक्ष्मी बोली "मैंने तो तुम्हारी पहले ही बड़ी तारीफ़ सुनी है। तुम्हारे सेठ 'हमारे उन से' तुम्हारे खाने की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। हम भी तुम से कुछ पकाना सीख लेंगे।"

जगन्नाथ का सिर गर्व से ऊँचा हो गया। बोला, "सेठ ही के लिए तो मैं यहाँ आ गया, मेरी सेठानी को तो मेरी बनायी एक भी चीज़ पसन्द नहीं आती।"

"तुम्हारा नाम क्या है?" लक्ष्मी ने पूछा।

"जग्गू।"

"जग्गू?"

"नाम तो जगन्नाथ है पर सब जग्गू ही पुकारते हैं।"

"तो जगत् के नाथ हुए न तुम?" लक्ष्मी हँस कर बोली।

जगत् का नाथ बन कर जगन्नाथ ने खीसें निपोर दीं।

रात को जब उस ने खाना पकाया तो सब से पहले कटोरा भर सालन लक्ष्मी की रसोई में ले गया कि ज़रा चख कर बताये, कैसा बना है।

पंचगनी में आकर जहाँ जगन्नाथ को रसोई-घर में बिजली के अभाव, सेठानी की डाँट-डपट और वर्षा के आगमन से बहुत कष्ट होता था वहाँ उस के अहम् को यथेष्ट सान्त्वना भी मिलती थी। यद्यपि सेठ

रामचन्दानी और उन का दामाद जगन्नाथ को बहुत पसन्द करते थे, किन्तु सेठानी और उस की लड़की को उस की कोई बात पसन्द न थी। वे दोनों अपने को खाना पकाने में दक्ष समझती थीं और अपने पतियों से जगन्नाथ की प्रशंसा सुन कर मन ही मन जल उठती थीं। इस का समस्त क्रोध बेचारे जगन्नाथ पर उतरता था। उस की प्रत्येक बात में दोष निकालना वे अपना परम-कर्त्तव्य समझती थीं। सेठानी तो उस को पंचगनी ही लाने के विरुद्ध थी, किन्तु सेठ को उस का खाना पसन्द था और क्योंकि इस रोग में डाक्टर खाने पर ज़ोर देते हैं, इसलिए वह चुप रह गयी थी। चुप तो रह गयी, पर उस का क्रोध अपने में समा न पाता और जगन्नाथ को समय-समय पर उस का शिकार होना पड़ता।

सेठानी और उस की लड़की से डाँट-फटकार सुनने के पश्चात् जगन्नाथ को लक्ष्मी और दूसरों से प्रशंसा पाकर अतीव प्रसन्नता और सान्त्वना मिलती और अपनी सेठानी को किसी छोटे कुल की समझ कर वह उस की डाँट-फटकार की उपेक्षा कर देता। उस दिन लक्ष्मी ने उसे जगत् का नाथ कहा था। कुछ दिन बाद सिन्धी मालकिन मकान ने उसे "बख्तावर" बताया। वह रसोई घर में बिजली लगवा देने का तगादा करने गया था कि मालकिन मकान ने कहा, "तुम बड़े बख्तावर हो जगन्नाथ, तुम्हारे आते ही हमारा सारा बंगला किराये पर लग गया है और पैसेंजर भी आने लगे हैं। पैसा मिलते ही बिजली लगवा दूँगी।" जगन्नाथ गया तो था फुँकारता हुआ, कन्तु जब मालकिन-मकान से मिलकर आया तो बड़ा प्रसन्न था। यहाँ सब उसे अच्छा समझते थे और उस की सेठानी उसे ही अपनी सब मुसीबतों की जड़ बताती थी और नित्य इस बात की घोषणा करती थी कि जब से वह आया है, उस के घर रोग और विपत्ति ने डेरा जमा लिया है। जब पंचगनी आकर जगन्नाथ ने देखा कि सेठानी और उस की लड़की को छोड़ सब उसे पसन्द करते हैं,

उस की प्रशंसा करते हैं तो उस ने समझ लिया कि दोष उस में नहीं, उन में है।

बिजली तो उस के रसोई घर में क्या लगती, किरायेदारों और पैसेंजरों से कई बार रुपये मिले और आने वाले पैसेंजरों की तैयारी में लग गये, किन्तु सिन्धी मालकिन-मकान ने भी उस के खाना पकाने की प्रशंसा की, उस से एक आध पंजाबी सालन पकाना भी सीखा और उस ने भी उसे अपना भाई बना लिया, जिस के फलस्वरूप वह बाज़ार से उस का भी सामान लाने लगा।

जगन्नाथ ने अब उस से बिजली लगवा देने का तगादा करना भी छोड़ दिया था और सोच लिया था कि आदमी अच्छे होने चाहिएँ, जगह की क्या बात है, सदा तो हमें यहाँ रहना नहीं। यह बेचारी सिंधी स्त्री कहाँ बिजली कम्पनी से झगड़ती फिरेगी। फिर जब उस ने यह देखा कि चौथे रसोई घर में आने वाली सेठानी, जो धन-वैभव में उस की अपनी सेठानी से किसी प्रकार कम न थी, बिजली के बिना काम चलाती है तो उस ने भी स्थायी रूप से रसोई घर से समझौता कर लिया।

इस नयी सेठानी का नाम लीला बाई था— मोटी, थलथल पिलपिल, किन्तु हँसमुख, प्रसन्न-चित्त और मधुर-भाषिणी। उस की लड़की चार वर्ष से सेनेटोरियम में बीमार पड़ी थी। अब यह सुन कर कि उस की दशा शोचनीय हो गयी है, वह अपने बड़े सात बच्चों को बम्बई छोड़ कर, छोटे तीन बच्चों को साथ लेकर चली आयी थी। यों तो लीला बाई के पास तीन नौकर थे, किन्तु लड़की कुछ दिनों की मेहमान है, यह सोच कर वह उस को प्रिय तरकारियाँ स्वयं अपने हाथ से पका कर भेजती।

एक दिन वह रसोई में आयी तो जगन्नाथ आलू पका रहा था।

लीला बाई ने योंही बात आरम्भ करने के विचार से पूछा, "कहो भाई, क्या पका रहे हो? बड़ी अच्छी गन्ध आ रही है।"

जगन्नाथ प्रसन्नता से फूल उठा—"पका लूँ, फिर बताऊँगा", उस ने सालन में चम्मच घुमाते हुए, नथने फुला कर कहा।

लीला बाई चली गयी और तरकारी बना कर जगन्नाथ इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि लीला बाई कब खाने पर बैठे और कब वह बहुत अच्छी गन्धवाली वह तरकारी लेकर जाये। प्रतीक्षा में समय उसे रेंगता हुआ सा लगा। कई बार डाइनिंग रूम में जाकर देख आया कि लीला बाई खाने पर बैठी है या नहीं। अन्त में लीला बाई खाने की मेज़ पर आ बैठी और वहां से उस ने अपने नौकर को खाना रखने के लिए आवाज़ दी। जगन्नाथ ने यह सुना और एक प्लेट में आलू डाल कर दूसरी प्लेट से ढक कर बड़े आदर से ले गया।

"ज़रा आप के चखने को लाया हूँ", और प्लेट उस ने मेज़ पर रख दी।

"तुम ने योंही कष्ट किया। मैंने तो ऐसे ही पूछा था।"

"कष्ट काहे का", कहता हुआ वह झट से चला गया।

खाना खाकर लीला बाई ने शिष्टाचार-वश उस के सालन की प्रशंसा की और उसे धन्यवाद भी दिया।

इतनी बड़ी सेठानी से अपने खाने की प्रशंसा सुन कर जगन्नाथ फूला न समाया। उस के बाद जब भी वह आलू पकाता, लीला बाई को चखाना न भूलता। घर में चाहे कम हो जायें, चाहे उसे स्वयं सूखी रोटी खानी पड़े, किन्तु लीला बाई के लिए प्लेट भर कर ले जाना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता।

उस की सेठानी यह सब देखती तो उस के हृदय पर सांप लोटने

लगता—मन ही मन जल-भुन कर रह जाती, किन्तु कोई ऐसी बात मुँह से निकाल कर पड़ोसियों की दृष्टि में हेय बनना उसे अभीष्ट न था। फिर इतने बड़े सेठ की पत्नी होकर इतनी छोटी बात कैसे कहे? उस दिन प्लेट के टूट जाने पर जब उस ने जगन्नाथ को डाँटा था तो उस के पति को जगन्नाथ से इस बात का पता चल गया था और उस ने बड़े प्यार से पत्नी को समझाया था कि पंचगनी में नौकरों का, विशेष कर अच्छे रसोइयों का, बड़ा अभाव है। इसलिए जगन्नाथ को यदि किसी वस्तु के लिए कहना भी हो तो ऐसे कहा जाय कि उसे बुरा न लगे। "अपने से भी तो चीज़ टूट जाती है," सेठ रामचन्दानी ने समझाया था और फिर दार्शनिक बनते हुए कहा था, "जो बना है वह तो टूटेगा ही, छः फुट का मनुष्य टूट जाता है! तो आध फुट की प्लेट किस गिनती में है?" फिर हँसते हुए बोले थे, "इतनी बड़ी सेठानी होकर ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दिया करो। मुनीम से मैंने कह दिया है, अगले सप्ताह आते हुए प्लेटों का सेट ख़रीद लायेगा।"

सेठानी उस समय तो मन मार कर रह गयी थी, किन्तु इस बात की ताक में रहने लगी कि अवसर मिले तो अपने मन का समस्त क्रोध निकाले। उस दिन के बाद उस ने देखा कि जगन्नाथ और भी शेर हो गया है। उस दिन के बाद ही क्यों, वास्तव में पंचगनी में आने के बाद उस ने अनुभव किया था कि जगन्नाथ बदल गया है। बम्बई में वह डाँट सुन कर चुप रहता था, कभी उत्तर देता भी था तो दबे स्वर से, किन्तु यहाँ आकर तो उसे डाँटने की नौबत ही न आती। ज़रा सी बात पर वह इस प्रकार देखता जैसे वह सेठानी न होकर कोई अत्यन्त साधारण स्त्री हो। और वह मन ही मन जल-भुन कर रह जाती।

पञ्चगनी के सेनेटोरियम में बुध को शाम का खाना नहीं मिलता। डाक्टरों का मत है कि सप्ताह में एक जून आँतों को आराम देना

चाहिए। इस उपवास का उद्देश्य बचत भी हो सकता है। कौन जाने ? बहरहाल जिन रोगियों को घर से भी आता है, वे भी छः बजे से पहले पहले समाप्त कर देते हैं। एक बुध को जगन्नाथ कुछ चीज़ें फ़ाई करके और थोड़ा-सा गाजर का हलुवा पका कर चाय के साथ अपने सेठ के लिए ले गया। चीजें बहुत अच्छी बनी थीं, किन्तु उन्हें भूख न थी। उन्हों ने अपने पास बैठे एक गुजराती युवक से हाथ बटाने को कहा और जगन्नाथ से बोले कि जुबली-वार्ड से उन का कप और प्लेट ले आये।

जुबली वार्ड सेनेटोरियम के परले सिरे पर था। जगन्नाथ को वहाँ जाना और किसी दूसरे रोगी के बर्तनों को छूना बहुत बुरा लगा। वह तो अपने सेठ के बर्तन भी सौ नाक-भौं चढ़ा कर धोता था, किन्तु वह सेठ का आदर करता था इस लिए चुपचाप चला गया और आते समय जुबली-वार्ड के ब्वाय से कह आया कि वह बर्तन वहाँ से वापस ले आये।

"वाह! क्या हलुवा बना है!" उस गुजराती युवक ने हलुवे का एक चमचा मुँह में रखते हुए कहा, "कौन पकाता है आप का खाना?"

सेठ साहब को अपने नौकर की प्रशंसा अपनी प्रशंसा लगी। प्रसन्नता से बोले," यही हमारा जगन्नाथ पकाता है। खाना पकाने में इस का सानी बम्बई भर में न मिलेगा।"

"क्या डालते हो हलुवे में जगन्नाथ?" उस गुजराती युवक ने पूछा।

"डालता-वालता कुछ नहीं सेठ", जगन्नाथ ने कहा, "सब हाथ की सफ़ाई है।"

खाना समाप्त हो गया तो वह अपने आप ही बर्तन जुबली-वार्ड में छोड़ आया, वार्ड-ब्वाय की प्रतीक्षा भी उस ने नहीं की।

उस दिन तो इतना अच्छा खाना पकाने पर सेठ साहब ने उसे पुरस्कार भी दिया और शाबाशी भी, किन्तु जब प्रत्येक बुध को उन्हें वही हलुवा और वही भूनी हुई चीजें मिलने लगीं तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्हों ने यह भी देखा कि जगन्नाथ घर ही से उस युवक के लिए अलग से हलुवा बना कर ले आता है और यदि वह वहाँ नहीं होता तो जुबली-वार्ड देने चला जाता है। हालाँकि उन्हों ने अपनी पत्नी से कहा था कि छोटी छोटी बातों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, किन्तु जब चौथे बुध को भी जगन्नाथ वही हलुवा बना कर लाया और गुजराती युवक को देने भी गया तो यद्यपि हलुवा अत्यन्त स्वादिष्ट बना था परन्तु उन के लिए गले से नीचे उतारना कठिन हो गया। एक दो चमच निगल कर ही उन्हों ने प्लेट को परे हटा दिया और जुबली वार्ड से जगन्नाथ के लौटने की प्रतीक्षा करने लगे, किन्तु जब वह लौट कर आया तो उस के साथ वह गुजराती युवक भी था। उस ने उन चीज़ों के लिए सेठ साहब को धन्यवाद दिया और "हिन्दोस्ताननना भागला तो पड़ी गया"* से बात आरम्भ करते हुए कुर्सी सँभाल ली।

भारत के बँटवारे के सम्बन्ध में सेठ साहब के अपने विचार थे। कोई और अवसर होता तो वे ज़ोरों से उन्हें प्रकट करते, किन्तु उस समय मन ही मन लोहू के घूँट भर कर और ओठों पर एक खिन्न सी मुस्कान लाकर रह गये। जगन्नाथ बर्तन उठा कर चला गया और वे गुजराती युवक की बातों का 'हाँ' 'हूँ' में उत्तर देते रहे। अन्त में यह जान कर कि सेठ साहब की तबीयत ठीक नहीं, वह गुजराती युवक भी चला गया।

रात को कुछ क्रोध और कुछ भूख के मारे सेठ साहब को नींद न आयी। वे जगन्नाथ को डाँट देते तो सम्भवतः शान्त हो जाते, किन्तु

---

*हिन्दुस्तान का बँटवारा तो हो गया।

वह उसी प्रकार हँसता हुआ चला गया था, और सेठ साहब कभी अपनी सदयता पर, कभी उस गुजराती युवक की नीचता अभुखेपन पर (जो किसी प्रकार की आपत्ति किये बिना प्रत्येक को हलुवा और दूसरी चीज़ें ले लेता था) कभी अपनी पत्नी पर जो सदैव नौकरों को अपनी मूर्खता के कारण बिगाड़ देती थी और सब से अधिक अपने आप और जगन्नाथ पर झल्लाते रहे।

किन्तु दूसरे दिन सुबह जब उन की पत्नी आयी तो वे काफ़ी सँभल चुके थे। वे जगन्नाथ की शिकायत करें तो वह उन्हीं के पीछे न पड़ जाये कि आप ही ने उसे बिगाड़ दिया है, इस विचार से उन्हों ने कुछ बेपरवाही से हँस कर कहा, "यह जगन्नाथ भी अजब मूर्ख है। एक दिन वह गुजराती छोकरा नारायण मेरे पास बैठा था, मुझे भूख न थी, मैंने कुछ हलुवा उसे देने को कहा। उस ने हलुवे की प्रशंसा क्या की बस हर बुध को हलुवा लेकर उस के वार्ड में पहुँच जाता है। इतनी छोटी-सी बात के लिए मैं उसे क्या कहूँ, तुम ज़रा उसे समझाना।"

उन का यह कहना था कि उन की पत्नी उबल पड़ी। वास्तव में वह स्वयं जगन्नाथ की शिकायत करने आयी थी। "मैं तो आप के डर से कुछ कहती नहीं", वह बोली, "नहीं इस ने मुझे जितना परेशान कर रखा है, मैं ही जानती हूँ। इतने नौकर रखे हैं, इस जैसा मूर्ख नहीं देखा। कोई ज़रा-सी प्रशंसा कर देता है, बस उसी का हो जाता है। एक दिन उस पंजाबी छोकरी ने उस के खाना पकाने की प्रशंसा की, बस, कोई तरकारी पकाये, उसे ज़रूर पहुँचाता है। लीला बाई, मालकिन-मकान, माली, हमाल† किसी न किसी को कुछ न कुछ देता ही रहता है। हम को मिले न मिले, उन्हें अवश्य पहुँचाता है। पड़ोसियों की

---

† हमाल = साधारण नौकर

मैं कुछ कहती नहीं। और तो और, परसों एक पंजाबी पे...
...ा। उसे शायद सिन्धी खाना पसन्द न था। बस मालकिन-मकान ने ...स से कहा, "क्या खाना पकाते हो जगन्नाथ, हमारा पंजाबी पैसेंजर ...हता था कि खुशबू ही से तबीयत खिल जाती है।" बस रोज़ उस पंजाबी छोकरे को सालन पर सालन पहुँचते हैं। मैं तो तंग आ गयी हूँ। कोई सदाव्रत खोल रखा है हम ने? आप को हमारी बनी चीज़ पसन्द नहीं आती, नहीं तो मैंने इसे कब का निकाल दिया होता।

"नहीं, नहीं, यह बात नहीं" सेठ साहब हँस कर बोले। उन्हें पहली बार अपनी पत्नी से सहानुभूति हुई, "मैं तो तुम्हारे कारण ही कहता था। यहाँ नौकर मिलते नहीं, तुम्हें फिर चौके-चूल्हे से माथा फोड़ना पड़ेगा। ज़रा मूर्ख तो है, किन्तु है दयानतदार।

"मैं ऐसे दयानतदार को लेकर क्या करूँ?" सेठानी बोली, "दोनों हाथों से घर लुटाये दे रहा है। और फिर घर में हम चाहे चीख़ती-चिल्लाती रहें, वह पड़ोसियों के काम में लगा रहता है। सुबह बाज़ार जाता है तो दस-ग्यारह बजे तक लौटता नहीं। दुनिया भर के लिए सामान ख़रीदता फिरता है। मैं स्वयं पका लूँगी पर इस को नहीं रखूँगी।"

"नहीं तुम को पकाने की ज़रूरत नहीं," सेठ साहब ने अतीव उदारता से कहा, "मैं आज ही मुनीम को तार देता हूँ, आते समय रसोइया लेता आये, तब तक तुम इसी से काम चलाओ। डाँटो, किन्तु इतना नहीं कि अभी चला जाय।"

कई दिन के बाद आकाश कुछ खुला था। घटाएँ छँट गयी थीं और हल्के-हल्के बादलों के पीछे से सूर्य की निर्जीव सी मुस्कान गीली-गीली पहाड़ियों पर फैल गयी थी। लक्ष्मी घर में बैठे-बैठे उकता कर

बाज़ार गयी थी। सामान का थैला हाथ में लिये हुए वह बंगले को आ रही थी कि सामने से उसे बोरिया-बिस्तर उठाये, नाक-भौं चढ़ाये जगन्नाथ आता हुआ दिखायी दिया।

"क्यों भाई जगन्नाथ, कहाँ चले?" उस ने रुक कर पूछा।

"नौकरी छोड़ आया।" जगन्नाथ ने वैसे ही नाक चढ़ाये हुए कहा, "घसियारे हैं और सेठ बने फिरते हैं।"

जब लक्ष्मी ने पूछा तो उस ने सारी बात बतायी और बोला कि वह ऐसा वैसा रसोइया नहीं। उसे नौकरियाँ बीस मिल जायँगी और सेठों ही की मिलेंगी, घसियारों की नहीं। कहाँ तो डाँट रही थीं कि मुझे ऐसा नौकर नहीं चाहिए, तुम दूसरा घर देख लो। जब मैंने बिस्तर उठाया तो कहने लगीं—पन्द्रह दिन का नोटिस दो, नहीं पगार काट लेंगे। मैंने कहा—तुम पगार काट कर सेठ बन जाओ, मुझे नहीं चाहिए ऐसे भुक्खड़ों की नौकरी।"

और वह चलने लगा।

लक्ष्मी ने अत्यन्त उदास होकर कहा, "तुम्हें तो बीस सेठ मिल जायेंगे जगन्नाथ, पर हमें तुम जैसा भाई कहाँ मिलेगा।"

जगन्नाथ चलता-चलता रुक गया। गर्व से उस का मस्तक ऊँचा हो गया। नथने फुला कर बोला, "तुम चिन्ता न करो बीबी, मैं कहीं भी रहूँ, तुम्हें किसी तरह का कष्ट न होने दूँगा।"

लक्ष्मी के नेत्र सजल हो गये। "तुम्हारा ही सहारा है भाई"। कह कर और जगन्नाथ के नमस्कार का उत्तर देकर वह चल पड़ी। सोचने लगी—ज़रा सी प्रशंसा का भूखा है बेचारा, घर में मिल जाय तो बाहर क्यों जाय?

उड़ान

(अश्क के दो बड़े नाटकों का संग्रह)

अश्क का नाटक-कार सागर के तट पर घूमने ऐसा पथिक है जो बिना किसी पूर्व-योजना के, जो भी उपल देखता है, चुन लेता है। अश्क के नाटक अपने उ कथानक, पात्र, रस, रंग और वातावरण की दृष्टि से उपल-खंडों ही की भाँति विभिन्न और रंगारंग हैं।

परन्तु अपने नवीन नाटक-संग्रह **उड़ान** में अश्‍ पूर्व-निश्चय के साथ भव के इस विशाल सागर के त दो मोती चुने हैं।

कैद—और—उड़ान

दोनों नाटक प्रेम की बात करते हैं।

प्रेम—जब नारी रीति-रिवाज की जंज़ीरों में जकड़ी, के आँसू रोती है।

प्रेम—जब नारी-पुरुष समाज की जकड़बन्दियों में कर भी उड़ान का सहूर नहीं खोती।

और हिन्दी के नाटक क्षेत्र ही में नहीं, वरन् स्वयं अश के नाटकों में भी ये दोनों नाटक विशिष्ट स्थान के अधिका हैं। इन में प्रेम भी है, रूमान भी और काव्य भी। पर इ सब के बैक ग्राऊँड में ब्लाक के हाफ़-टिंट की भाँति क

प्रकाशित ...